प्रवचन रत्नाकर भाग-७ (हिन्दी)

प्रथम संस्करण : ३२००
(१५ अगस्त १९९१)

मूल्य : दस रुपए मात्र

मुद्रक :
कोटावाला प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि.,
सुभाष मार्ग, सी स्कीम
जयपुर

प्रकाशकीय

(प्रवचन रत्नाकर भाग-७)

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत महान ग्रंथराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संकलन प्रवचनरत्नाकर भाग-6 का प्रकाशन कर हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रांतिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकारों को यह दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक नहीं भुला सकेगी।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रंथ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रंथ को पाकर सन् 1934 में उन्होंने स्थानकवासी साधु का वेश (मुंहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और दिगम्बर ब्रह्मचारी के रूप में अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने 45 वर्षों तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं है, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुःखों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमंदिर एवं प्रकाशित सत्सहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

पूज्य गुरुदेव श्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया गया है परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असंभव है। अतः उनके प्रवचनों को श्रृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय बंबई के श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रंथाधिराज पर हुए संपूर्ण ग्रन्थ के गुजराती प्रवचन ११ भागों में प्रकाशित हो चुके हुए हैं, जिन्हें हिन्दी में रूपान्तर करके प्रवचनरत्नाकर के नाम से अभी तक छह भागों में प्रकाशित किया जा चुका है। और यह सातवाँ भाग आपके हाथों में है।

प्रवचनरत्नाकर के प्रथम भाग में 1 से 25 गाथाएँ, द्वितीय भाग में 26 से 68 तक, तृतीय भाग में 69 से 91 तक, चतुर्थ में 92 से 144 तक, पांचवें भाग में 145 से 180 तक, छठवें भाग में गाथा 181 से 214 तथा सातवें भाग में गाथा 215 से 236 तक प्रवचन संकलित हैं।

इस सातवें भाग की कीमत कम करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहयोग हमें श्री भगवानजी भाई कचराभाई लन्दन का प्राप्त हुआ है, उन्होंने पुस्तककी लागत का 30 प्रतिशत व्यय जोकि 15 हजार रु. होता है स्वयं वहन किया है, अतः ट्रस्ट उनका विशेष आभारी है। अन्य जिन महानुभावों ने पुस्तक की कीमत कम करने में सहयोग दिया है (सूची अन्यत्र प्रकाशित है) वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल का एवं अनुवाद में पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदा की भाँति विभाग के प्रभारी अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है तथा प्रूफरीडिंग का कार्य पण्डित रमेशचन्द्रजी शास्त्री ने किया है। अतः उपर्युक्त सभी सहयोगी बधाई के पात्र हैं।

आप सभी पूज्य गुरुदेव श्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वानुभूतिदशा प्रगट करें व आत्मकल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर हों ऐसी मेरी भावना है।

नेमीचन्द पाटनी,
महामंत्री

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थी। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात ही क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है, उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इसपर आद्योपान्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार इनका गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस संदर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी का कथन द्रष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :—

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र-सभा में शास्त्र वांचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म-ग्रंथों की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ, अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसाद जी की हंसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता, तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

1 जैन सन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रंथों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिये। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए — इस उद्देश्य से सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचन-रत्नाकार' के नाम से सर्वप्रथम समयसार परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूंकि गुरुदेवश्री के मूल प्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। २६ अप्रैल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९२वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचन-रत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्व-प्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के

कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूं, क्योंकि इस कारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिंतन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में सात वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनों के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादनशैली से मेरा घनिष्ट परिचय हो गया है। तथा प्रवचन-रत्नकार भाग १ के सम्पादन कार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन में यद्यपि मुझे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इन पाँचों भागों के सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है, गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल में रहती है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती; क्योंकि जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से पुनः अनुरोध करना चाहूंगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं, तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर करके इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित प्रवचन-रत्नाकर के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किए गए हैं, उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बांटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। आगे भी भागों का विभाजन गुजराती भागों को आधार न बनाकर स्वतंत्ररूप से किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है; साथ में यह भी

उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग चार सौ पृष्ठों के आस-पास तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम (भाग) बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़े भी बहुत हैं और पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं, तथा सामान्य लोगों को सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहां तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे, इस बात का भी पूरा–पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रंथ संस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और भी छोटी-छोटी बहुत सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है, वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है, इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी; फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है, अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल दिखाई दे, तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

—(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया, तो मैं असमंजस में पड़ गया। मैंने यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं है, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ; अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर, प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर मैंने इस काम को अन्ततोगत्वा अपने हाथ में ले ही लिया। इस कार्यभार को सँभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही सँभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और

भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचता है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं, उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परमप्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने में सुगमता भी रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' अर्थात् शास्त्रसमुद्र में कौन विमोहित नहीं होता – इस लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एवं अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ।

– रतनचन्द भारिल्ल

(प्रवचनरत्नाकर भाग ७)

अनुक्रमणिका

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दाताओं की सूची

1.	श्री भगवान जी भाई कचराभाई ट्रस्ट, बंबई	—	15000.00
2.	श्री अमीचंद गोपाल लाल कामदार, मद्रास	—	5001.00
3.	श्रीमती घापूदेवी स्व. ताराचंदजी गंगवाल, जायपुर	—	2000.00
4.	श्रीमती पतासीदेवी स्व. इन्दरचंद जी पाटनी, लाडनूं	—	1000.00
5.	स्व. श्रीमती विदामीबाई गेंदालाल सोगानी	—	501.00
6.	डॉ. उज्जवला दिनेशचंदशाह, बंबई	—	500.00
7.	गुप्तदान ह.श्री छाबडाजी	—	301.00
8.	श्री शाम जी भाणजी शाह, गोरेगाँव, बंबई प्रेमजीभाई	—	251.00
9.	श्रीमती अमृत बहन प्रेमजी जैन c/o अतुल भाई जैन, बंबई		251.00
10.	श्री चतरसेन अनिलकुमार जैन, अडगी	—	250.00
11.	पं. रतनचंद पटपार्ट, मंदसौर	—	250.00
12.	श्रीमती सुशीलाबाई ध. प. श्री जवाहर लाल जी, विदिशा	—	201.00
13.	श्रीमती राजकुमारी गोधा श्री कोमल चन्द जी गोधा, जयपुर	—	201.00
14.	श्रीमती प्रेमचंदजी बडजात्या रोशनलाल हरश्चचंद देहली	—	201.00
15.	प्रकाशचन्द गम्भीरचन्द जैन, सेमारीवाले, अहमदाबाद	—	200.00
16.	श्रीमती गुणमाला स्व. पदमकुमारजी दिल्ली	—	151.00
17.	श्री मनोहरलाल सुशील कुमार काला इन्दौर	—	150.00
18.	स्व. श्रीमती कुसुमलता बंसल एवं सुनंद बंसल स्मृतिनिधि c/o डा. राजेन्द्र कुमार जी बंसल अमलाई (म. प्र.)	—	111.00
19.	श्री जयन्ती भाई धनजी भाई दोथी, बंबई	—	111.00
20.	चौधरी फूलचन्दजी जैन मनोज एण्ड कं. बंबई	—	101.00
			25830.00

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग-७]

कलश-१४६

(स्वागता)

पूर्व-बद्ध-निज-कर्म-विपाकात्
ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्
नूनमेति न परिग्रहभावम्।।१४६।।

श्लोकार्थः- (पूर्वबद्ध-निज-कर्म-विपाकात्) पूर्वबद्ध अपने कर्म के विपाक के कारण (ज्ञानिनः यदि उपभोग भवति तत् भवतु) ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो हो (अथ च) परन्तु (रागवियोगात्) राग के वियोग (अभाव) के कारण (नूनम्) वास्तव में (परिग्रहभावम् न एति) वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होगा।

भावार्थः- पूर्वबद्ध कर्म का उदय होने पर उपभोग सामग्री प्राप्त होती है, यदि उसे अज्ञानमय रागभाव से भोगा जाये तो वह उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त हो। परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं होता। वह जानता है कि जो पहले बांधा था, वह उदय में आ गया और छूट गया है; अब मैं उसे भविष्य में नहीं चाहता। इसप्रकार ज्ञानी के रागरूप इच्छा नहीं है, इसलिये उसका उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।

कलश १४६ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि जिसके अन्तर में स्वानुभव प्रगट हो गया है, उसको पूर्व के अज्ञानभाव में बंधे कर्मोदय से संयोग हो तो हो तथा संयोगों के प्रति लक्ष्य जाने से संयोगीभाव रूप अस्थिरता का अंश भी हो तो हो; परन्तु उसे संयोग में, राग में या संयोगों के फल में रुचि नहीं होती तथा मिथ्यात्व सहित राग का अभाव होने से उसके उस संयोग व संयोगीभाव का परिग्रह नहीं है।

अहाहा....! जिसको वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा की दृष्टि हो गई है, वह दृष्टि की अपेक्षा वीतराग ही है; क्योंकि उसको समस्त राग की रुचि उड़ गई है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के परद्रव्य का उपभोग हो तो हो, तो भी उसको वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसके अज्ञानजन्य राग का या राग की रुचि का अभाव है।

अहा! यद्यपि ज्ञानी को किंचित् रागादिभाव होता अवश्य है, परन्तु वह उसका स्वामी नहीं है। वह राग को रोग समान जानता है। इसकारण धर्मी को वास्तव में तो वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। धर्मी उस राग को रखने योग्य व लाभदायक नहीं मानता। अतः उससे वह सदा के लिए मुक्त हो जाना चाहता है।

कलश १४६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यह रुपया-पैसा, धन-सम्पत्ति आदि उपभोग सामग्री जो भी प्राप्त होती है, वह पूर्वकर्म के उदय से प्राप्त होती है, अपने पुरुषार्थ से नहीं। उस उपभोग सामग्री में यदि राग की मिठास हो तो वह उपभोग परिग्रह को प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं है, वह जानता है कि जो पूर्व में बांधा था, वह उदय में आ गया है, जो कि एक क्षणिक संयोग है। वह मेरा "स्व" नहीं है।

अहाहा....! जिसको पूर्णानन्द के नाथ चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आया है, उसको कर्म के निमित्त से सामग्री मिलती है

और रागांश भी होता है; परन्तु राग की इच्छा का अभाव होने से राग छूट जाता है, निर्जर जाता है। इसप्रकार ज्ञानी के निर्जरा होती है।

प्रवचनसार की ४५वीं गाथा में भी ऐसा आता है कि अरहंत भगवान के पुण्य के फल में अतिशय वगैरह होते हैं, परन्तु भगवान की वह औदयिक क्रिया क्षण-क्षण में खिर जाती है। इसलिए उनकी उस औदयिक क्रिया को क्षायिकी कहा है। उसीप्रकार यहाँ कहते है कि साधक अवस्था में जो जीव स्वभाव सन्मुख हुआ है, उसे वर्तमान में रागादि भी होते हैं; परन्तु वह राग की क्रिया उदय में आकर खिर जाती है, निर्जर जाती है। इसलिए ज्ञानी साधक के निर्जरा है। भगवान केवली को वाणी, गमन आदि मात्र जड़ की क्रियाओं का ही उदय है, जबकि साधक के तो रागादि हैं, तथापि वे खिर जाते हैं, अतः उसके निर्जरा कही गई है।

प्रश्नः- "पुण्य फलः अरहंता" के अनुसार भगवान को पुण्य के फल में ही अरहंतपना प्राप्त हुआ है न?

समाधानः- अरे भाई! "पुण्य फलः अरहंतां" का अर्थ ऐसा नहीं है। जिस गाथा का यह अंश है, उस गाथा का शीर्षक तो देखो, वहाँ शीर्षक में कहा गया है कि "पुण्य का फल तो तीर्थंकरों को, अरंहतों को अकिंचित्कर है; जिस गाथा का शीर्षक यह है, उसका अर्थ यह कैसे हो सकता है कि भगवान का तीर्थंकर पद या अरहंत पद पुण्य का फल है। वहाँ तो यह कहा गया है कि तीर्थंकर के पूर्व के पुण्य के कारण समोशरण की रचना, वाणी, विहार आदि क्रियायें क्षण-क्षण में नष्ट होती जाती है, उनका उदयभाव क्षण-क्षण में नष्ट होता जाता है, इसलिए उस उदयभाव को क्षायिक कहा जाता है। उसीप्रकार ज्ञानी के पूर्व के उदय के कारण जो सामग्री प्राप्त होती है, वह क्षण-क्षण में खिर जाती है। इसलिए उसे निर्जरा कहा जाता है। भगवान अरहंत की औदयिकी क्रिया को क्षायिकी कहा जाता है और साधक की औदयिकी क्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

जो तीर्थंकर केवली भगवान होते हैं, वे तो केवलज्ञान, केवलदर्शन व पूर्ण आनन्द की प्राप्ति से होते हैं; परन्तु वतर्मान अरहंत पद में उनके पूर्व

के पुण्य के निमित्त से विहार, वाणी आदि जो होते हैं, वे सभी क्रियायें औदयिकी हैं। पूर्व कर्मोदय के निमित्त से हुई क्रियायें क्षण-क्षण में नष्ट होती जाती हैं, इसलिए उन औदयिक क्रियाओं को क्षायिकी कहा जाता है तथा साधक की औदयिकी क्रियाओं को निर्जरा कहते हैं।

इसप्रकार "पुण्य फलः अरहंता" का वास्तविक अर्थ है। अरहंत भगवान के उदय का निश्चित रूप से नाश ही होता है, इसलिए उसे क्षायिकी कहते हैं। तथा धर्मी के जो राग होता है, वह निर्जर जाता है। इसलिए उसे निर्जरा कहा है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को अज्ञानमय रागभाव नहीं है। वह जानता है कि जो पूर्व में बांधा था वह उदय में आ गया और छूट गया–खिर गया। अब मैं उसे भविष्य में चाहता नहीं हूँ। ज्ञानी के उदयभाव की वांछा नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के रागरूप इच्छा नहीं है, इसकारण ज्ञानी का उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। ज्ञानी के राग की इच्छा का अभाव है, इसकारण उसका उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।

समयसार गाथा २१५

उप्पण्णोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२१५॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्।
कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२१५॥

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात्। तत्रातीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात्। प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात्। न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टः, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात्।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है:—

सांप्रत उदय के भोग में जु वियोगबुद्धी ज्ञानि के।
अरु भावि कर्मविपाक की कांक्षा नहीं ज्ञानी करे ॥२१५॥

गाथार्थः— (उत्पन्नोदयभोगः) जो उत्पन्न (वर्तमान काल के) उदय का भोग है (सः) वह, (तस्य) ज्ञानी के (नित्यम्) सदा (वियोगबुद्ध्या) वियोगबुद्धि से होता है (च) और (अनागतस्य उदयस्य) आगामी उदय की (ज्ञानी) ज्ञानी (कांक्षाम्) वांछा (न करोति) नहीं करता।

टीकाः— कर्म के उदय का उपभोग तीन प्रकार का होता है— अतीत, वर्तमान और भविष्य काल का। इनमें से पहला, जो अतीत उपभोग है, वह अतीतता (व्यतीत हो चुका होने) के कारण ही परिग्रहभाव को धारण नहीं करता। भविष्य का उपभोग यदि वांछा में आता हो तो ही वह परिग्रहभाव को धारण करता है; और जो वर्तमान

वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात्। ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्। अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो नाकांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्।

उपभोग है वह यदि रागबुद्धि से हो रहा हो तो ही परिग्रहभाव को धारण करता है।

वर्तमान कर्मोदय उपभोग ज्ञानी के रागबुद्धि से प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि उसका अभाव है; और केवल वियोगबुद्धि (हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान वह वास्तव में परिग्रह नहीं है। इसलिये वर्तमान कर्मोदय-उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है (परिग्रहरूप नहीं है)।

अनागत उपभोग तो वास्तव में ज्ञानी के वांछित ही नहीं है (अर्थात् ज्ञानी को उसकी इच्छा ही नहीं होती) क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव—वांछा का अभाव है। इसलिये अनागत कर्मोदय-उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है (परिग्रहरूप नहीं है)

भावार्थ :-अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है। अनागत उपभोग की वाँछा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्म को अहितरूप जानता है उसके आगामी उदय के भोग की वांछा क्यों करेगा? वर्तमान उपभोग के प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है उसके प्रति राग कैसे हो सकता है? इसप्रकार ज्ञानी के जो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मोदय का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित करता है, वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती, उसका उपचार करता है; जैसे—रोगी रोग का उपचार करता है। यह, अशक्ति का दोष है।

गाथा-२१५ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस गाथा में यह कहते हैं कि ज्ञानी के तीनों काल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है। यहाँ धर्मी जीव की बात चल रही है। अतः कहते हैं

कि कर्म के उदय का उपभोग भूत, वर्तमान व भविष्य तीन प्रकार से होता है। इन तीन में से प्रथम अतीत उपभोग तो बीत गया है अर्थात् भूतकाल का उपभोग तो वर्तमान में है नहीं, इसलिए वह तो परिग्रहभाव को प्राप्त हो नहीं सकता और भूतकाल का राग नष्ट हो गया, इसलिए वह तो परिग्रहरूप से वर्तमान में है ही नहीं। तथा भविष्य के उपभोग की ज्ञानी को वांछा नहीं है, उसे तो केवल एक निराकुल आनन्द के उपभोग की भावना होती है। प्रभु! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द है। उसके आश्रय से जिसको पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद प्रगट हुआ है, उसको धर्म प्रगट हुआ है तथा वही धर्म है। अहाहा! आनन्द आत्मा का धर्म है और आत्मा धर्मी है। वह धर्म (गुण, स्वभाव) तो त्रिकाल है तथा उसके आश्रय से प्रगट हुआ वर्तमान आनन्द वर्तमान धर्म है, उस आनन्द की परमोत्कृष्ट दशा प्रगट होना ही सिद्धपद है। जिसे ऐसी आनन्द दशा प्रगट हो गई है उस ज्ञानी के भूतकाल का उपभोग तो चला ही गया है तथा भविष्य की भी वांछा नहीं है। इसी बात को आगे २१६वीं गाथा में वेद्य-वेदक भाव समझाते हुए विशेष समझाया जाएगा। वर्तमान वांछा वेद्य है तथा भविष्य में जो भोगने का भाव आता है, उसे वेदकभाव कहते हैं। ज्ञानी को वर्तमान विभाव की वांछा तो है ही नहीं तथा भविष्य में भोग भोगने रूप विभावभाव की भी वांछा नहीं है।

'ऐसा हो तो ठीक' ऐसी वांछा करना वेद्यभाव है। उस वेद्यभाव के समय वेदकभाव नहीं है, क्योंकि वर्तमान में (वांछित का) अनुभव तो है नहीं और जब वेदकभाव आयेगा तब वेद्यभाव की वांछा नहीं रहती, इसलिए ज्ञानी के विभाव का वेद्य-वेदकभाव होता ही नहीं है।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द की मूर्ति है। ऐसी आनन्दमूर्ति आत्मा के सन्मुख होने पर जो आनन्द व वीतरागी शान्ति प्रगट होती है, वही मोक्षमार्ग है। ऐसे मोक्षमार्ग को प्राप्त होने से जिसे अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद आया है, उसके भूतकाल का भोग तो वर्तमान में है नहीं तथा भविष्य के भोग की भी वांछा नहीं है। इस

कारण उसे भूत व भविष्य का उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। अहा! कहते हैं कि भविष्य के उपभोग की यदि वांछा हो तो वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त होता है, किन्तु भविष्य के भोग की तो ज्ञानी के वांछा ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी के भविष्य का उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव को एक आनन्द की ही भावना होती है; जिसके हृदय में अतीन्द्रिय आनन्द की भावना है, उसे अन्य भोगों की वांछा नहीं रहती।

अब वर्तमान की बात करते हैं—जो प्रत्युत्पन्न उपभोग रागबुद्धि से प्रवर्तता हो तो ही परिग्रहभाव को प्राप्त हो."

देखो, वर्तमान उपभोग यदि रागबुद्धि से हो, तो परिग्रहपने को प्राप्त हो, परन्तु ज्ञानी के तो राग का वियोग है। अहाहा....! यद्यपि धर्मी जीव को भी राग आता है, पर उसके राग का वियोग है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी की राग में रुचि नहीं है। ~~राग का राग नहीं है।~~ उसके राग है, पर दृष्टि में उसका वियोग है, क्योंकि वह हेय है न? ज्ञानी के राग हेय है, इस कारण राग है ही नहीं—ऐसा कहा है। इसलिए वर्तमान उपभोग धर्मी जीव को नहीं होता—ऐसा सिद्ध होता है। अहाहा! त्रिकाली भगवान जहाँ नजर में आया, वहाँ तीनों काल के भोगों की इच्छा समाप्त हो गई।

वर्तमान कर्मोदयजन्य उपभोग में ज्ञानी रागबुद्धि से प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभावरूप रागबुद्धि का अभाव है।

देखो, राग शुभ हो या अशुभ हो, ज्ञानी की दृष्टि में तो सर्व राग से भेदभाव हो गया है। इसलिए उसको अब राग के प्रति अनुराग रहा नहीं, इसलिए उसके राग का वियोग है। अहाहा....! जिसको निराकुल आनन्दरस का स्वाद आया है, वह राग की भावना कैसे करे? वर्तमान में

राग आया है, परन्तु उसमें उसे एकत्व नहीं है। इसकारण वर्तमान उपभोग परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानी के अनन्तानुबन्धी संबंधी राग छूट गया है। यद्यपि अनन्तानुबंधी के अलावा राग शेष है, परन्तु उसे अब राग से कुछ संबंध नहीं रहा। क्योंकि राग से भेद-भाव कर लिया है न? इसकारण राग के साथ उसका कोई संबंध नहीं रहा।

देखो भगवान आत्मा ज्ञानमयभाव है, जबकि राग अज्ञानमयभाव है; क्योंकि राग में ज्ञानमयभाव का अंश नहीं है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा की ज्ञानपरिणति का अर्थात् पंचमभाव की परिणति का राग में अभाव है, इसलिए इसके अलावा सभी अज्ञानमयभाव ही कहे गये हैं। अज्ञानमयभाव से केवल मिथ्यात्व ही नहीं कहा; दया, ज्ञान आदि रागभाव भी अज्ञानमयभाव ही कहे गये हैं। तथा उनमें ज्ञानी रागबुद्धि से नहीं प्रवर्तता। इसलिए उसको इनका भी परिग्रह नहीं है।

प्रश्नः- राग तो एक समय की सूक्ष्म पर्याय है, उसे कैसे पकड़ा जा सकता है?

समाधानः- राग जिस समय है, उसी समय अज्ञानी की ऐसी पकड़ होती है कि वह राग मेरा है और उससे मुझे लाभ होता है। वह राग की पकड़ अज्ञानी के भी एक समय की ही है, दूसरे समय में नहीं रहती, पर ज्ञानी का उपयोग तो स्व में झुक गया है न? इसकारण उसे तो अब राग की एकत्व-ममत्वरूप पकड़ ही नहीं है। उसने तो राग को भेदभाव से भिन्न ही कर दिया है, इसीकारण ज्ञानी को निर्जरा ही होती है।

देखो, ज्ञानी के राग है तो अवश्य; पर वह उसमें केवल वियोगबुद्धि से हेयबुद्धि से प्रवर्तता है। ज्ञानी रागबुद्धि से नहीं प्रवर्तता—ऐसा पहले नास्ति से कहा था और अब यहाँ यह कहते हैं कि वह केवल वियोग बुद्धि से ही प्रवर्तता है—ऐसा अस्ति से कहा है। ज्ञानी (राग में) हेयबुद्धि से प्रवर्तमान है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय का राग भी अपनी चीज नहीं

—ऐसा वह मानता है। इसप्रकार केवल हेयबुद्धि से ही प्रवर्तमान ज्ञानी के वस्तुतः राग का परिग्रह नहीं है।

यहाँ वियोगबुद्धि का अर्थ है सम्बन्धबुद्धि का न होना, एकत्वबुद्धि न होना। अहा ! ज्ञानी के राग में एकत्वबुद्धि नहीं है, इस कारण ज्ञानी के वर्तमान भोग का परिग्रह नहीं है। जहाँ राग का परिग्रह नहीं है, वहाँ पैसा आदि के परिग्रह की तो बात ही क्या है?

अनागत अर्थात् भविष्य के उपभोग की वांछा भी ज्ञानी के नहीं होती, क्योंकि उसे भविष्य में तो वर्तमान एकाग्रता की पूर्णतारूप मोक्ष की ही वांछा है। ज्ञानी के अज्ञानमयभाव रूप वांछा का अभाव होने से अनागत कर्मोदयजन्य उपभोग का परिग्रह नहीं है। अहाहा....! जहाँ उसे राग का परिग्रह नहीं है, वहाँ लक्ष्मी, कीर्ति या चक्रवर्ती का वैभव भले हो, पर उसकी पकड़ कैसे हो सकती है? नहीं होती। इसप्रकार ज्ञानी के तीनों काल संबंधी उपभोग परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता।

गाथा २१५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, भूतकाल का उपभोग तो विद्यमान ही नहीं है तथा अनागत उपभोग की वांछा नहीं है। क्योंकि जिस कर्म को ज्ञानी अहितरूप जानता है, उसके आगामी उदय के भोग की वांछा कैसे करेगा, क्यों करेगा?

देखो, समकिती—ज्ञानी भगवान आत्मा के ज्ञान की भावना करेगा या राग की? धर्मी को अनागत उपभोग की वांछा नहीं है। जिसे वह वर्तमान में हेयरूप से जानता है, उसकी वांछा भविष्य के उपभोग के लिए कैसे हो सकती है, नहीं हो सकती। तथा जिसे अहितरूप माना उसके उदय के भोग की वांछा ज्ञानी कैसे कर सकता है?

ज्ञानी के वर्तमान उपभोग के प्रति भी राग नहीं है; क्योंकि जिसे हेय माना-जाना, उसके प्रति राग कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता।

सारांश यह है कि ज्ञानी के जो भूत-वर्तमान व भविष्य संबंधी कर्मोदय का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है; क्योंकि ज्ञानी के ज्ञान व आनन्द की ही भावना है, राग की भावना नहीं है। इससे ज्ञानी का तीनों काल संबंधी उपभोग परिग्रह को प्राप्त नहीं होता।

अब कहते हैं कि ज्ञानी जो वर्तमान में उपभोग की साधन सामग्री एकत्रित करता है, वह तो अपनी वर्तमान असह्य पीड़ा का इलाज मात्र है। वह भी निमित्त की मुख्यता से विचार करें तो, अन्यथा बाह्यसाधनों को भी कौन मिला सकता है? वर्तमान कमजोरी के कारण उसप्रकार का राग आया है, इसकारण साधन जुटाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः देखा जाय तो साधन तो जड़ परद्रव्य है, जो कि स्वयं अपनी योग्यता से स्वतंत्र परिणमन करते हैं।

देखो, ज्ञानीपुरुष भी विवाहादि करते हैं, परन्तु वे उस विवाह के राग को दुःखरूप व हेय ही मानते हैं। यह विवाह तो रागरूपी रोग के इलाज के रूप में किया गया एक तात्कालिक उपाय मात्र है, अस्थाई इलाज है; अतः उसमें ज्ञानी की एकत्वबुद्धि नहीं है। तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ व अरनाथ तीनों ही जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे तथा तीनों चक्रवर्ती, कामदेव व तीर्थंकर पद के धारक भी थे; परन्तु उनकी उस राग में हेयबुद्धि थी। वे राग के एक अंश को भी अपना नहीं मानते थे। मात्र रागरूपी रोग का उपचार करते थे। परन्तु अज्ञानी को तो ज्ञानी केवल बाह्य उपभोग के साधन इकट्ठा करता हुआ दिखाई देता है। तथा यदि कहीं शास्त्र में ऐसा लिखा मिल गया कि "ज्ञानी वर्तमान में उपभोग के साधन इकट्ठे करता है" तो बस उसी बात को लेकर स्वयं उसे अपना कर्तव्य और उपादेय मान लेता है। वह यह नहीं विचारता कि यह बात किस अपेक्षा से कही गई है।

अरे भाई! यह कथन तो असदभूत व्यवहारनय का है और उसमें भी उपचार से ऐसा कहा है। शास्त्र में एक असद्भूत उपचार व दूसरा असद्भूत अनुपचार—ऐसे दो कथन आते हैं, उसमें यह असद्भूत

उपचरितनय से कहा गया है। "आत्मा कर्म को बांधता है—यह कहना असद्भूत अनुपचार है तथा "ज्ञानी उपभोग की सामग्री एकत्रित करता है"— यह कहना असद्भूत उपचरित व्यवहारनय है। भाई! यह तो उपचार है। पर, अज्ञानी इन अपेक्षाओं को नहीं समझता। इसके लिए कोई क्या करे?

अहाहा! आत्मा तो सदैव ज्ञानस्वरूप ही है। वह रजकणों का कर्ता-धर्ता नहीं है। ये सब तो जड़ की क्रियाएं हैं। यह जो वाणी बोली जाती है, वह भी जड़ की क्रिया है, उसमें आत्मा का कुछ भी कर्तव्य नहीं है। जिसे ऐसी दृष्टि हुई है, वह तो सभी का मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। उसे जो राग होता है, उसका भी वह ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। "वह साधन एकत्रित करता है" यह तो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो उसे सर्व विकल्पों के प्रति हेयबुद्धि ही होती है। देखो, कहा है न? समकिती चक्रवर्ती को ९६ हजार रानियों के साथ विवाह करने का परिणाम होते हुए भी उसमें उसकी सुखबुद्धि नहीं है, किन्तु हेयबुद्धि ही है। जिसप्रकार रोगी रोग का उपचार करता है, उसीप्रकार ज्ञानी अपनी वर्तमान चारित्रिक कमजोरी के कारण जो राग आता है, उसका उपचार (उपाय) करता है, परन्तु उसे हेयबुद्धि से ही करता है, उसमें उपादेयबुद्धि नहीं है।

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्-

जो वेददि वेदिज्जदि समए समये विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि॥२१६॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम्।
तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि॥२१६॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो भावः कांक्षमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति; तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय-उपभोग की वांछा क्यों नहीं करता? उसका उत्तर यह है:-

रे! वेद्य वेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे॥२१६॥

गाथार्थ:- (यः वेदयते) जो भाव वेदन करता है (अर्थात् वेदकभाव) और (वेद्यते) जो भाव वेदन किया जाता है (अर्थात् वेद्यभाव) (उभयम्) वे दोनों भाव (समये समये) समय समय पर (विनश्यति) नष्ट हो जाते हैं (तद्ज्ञायकः तु) ऐसा जानने वाला (ज्ञानी) ज्ञानी (उभयम् अपि) उन दोनों भावों की (कदापि) कभी भी (न कांक्षति) वांछा नहीं करता।

टीका:- ज्ञानी तो, स्वभावभाव का ध्रुवत्व होने से, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप नित्य है; और जो वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं वे, विभावभावों का उत्पन्न विनाशत्व होने से क्षणिक हैं। वहां, जो भाव कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे वेद्यभाव का वेदन करता है अर्थात् वेद्यभाव का अनुभव करनेवाला है।

वेदयते? यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; कस्तं वेदयते? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; किं स वेदयते? इति कांक्षमाणभाववेदनानवस्था। तां च विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव कांक्षति।

वह (वेदकभाव) जबतक उत्पन्न होता है तबतक कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) वेद्यभावं विनष्ट हो जाता है; उसके विनष्ट हो जाने पर, वेदकभाव किसका वेदन करेगा? यदि यह कहा जाये कि कांक्षमाण वेद्यभाव के बाद उत्पन्न-होनेवाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करता है, तो (वहाँ ऐसा है कि) उस अन्य वेद्यभाव के उत्पन्न होने से पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है; तब फिर उस दूसरे वेद्यभाव का कौन वेदन करेगा? यदि यह कहा जाये कि वेदकभाव के बाद उत्पन्न होनेवाला दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो (वहाँ ऐसा है कि) उस दूसरे वेदकभाव के उत्पन्न होने से पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा? इसप्रकार कांक्षमाणभाव के वेदन की अनवस्था है, उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।

भावार्थ:- वेदकभाव और वेद्यभाव में काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा? और जब वेद्यभाव आता है, तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है, तब फिर वेदकभाव के बिना वेद्य का कौन वेदन करेगा? ऐसी अव्यवस्था को जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है, वांछा नहीं करता।

यहाँ प्रश्न होता है कि आत्मा तो नित्य है, इसलिये वह दोनों भावों का वेदन कर सकता है; तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे?

समाधान—वेद्य-वेदक भाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिये वे विनाशीक हैं; अतः वांछा करनेवाला वेद्यभाव जबतक आता है तबतक वेदकभाव (भोगनेवाला भाव) नष्ट हो जाता है, और दूसरा वेदकभाव आये तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इसप्रकार वांछित भोग तो नहीं होता। इसलिये ज्ञानी निष्फल वांछा क्यों करे? जहाँ मनोवांछित का वेदन नहीं होता, वहाँ वांछा करना अज्ञान है।

गाथा २१६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ इस गाथा में वेद्य-वेदक भाव के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञानी अनागत उपभोग की वांछा क्यों नहीं करते? वेद्य अर्थात् इच्छा करनेवाला तथा वेदक अर्थात् अनुभव में आनेवाला भाव। ये दोनों भाव विभावभाव हैं और उत्पाद-व्यय स्वरूप होने से क्षणिक हैं। तथा भगवान आत्मा नित्य एक स्वभावरूप ज्ञायकभावस्वरूप है और ज्ञानी की दृष्टि अपने उस एक त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में ही संलग्न है। ऐसे स्वभाव का आश्रय करनेवाले ज्ञानी को उत्पाद-व्यय स्वरूप क्षणिक और विभावरूप वेद्य-वेदक भाव के द्वारा अनागत उपभोग की वांछा नहीं होती; क्योंकि वह जानता है कि जब वर्तमान इच्छारूप वेद्य (जानने का) भाव है तब अनुभव में आने योग्य वेदकभाव उत्पन्न नहीं हुआ और जबतक अनुभव में आने योग्य वेदकभाव उत्पन्न होगा, तबतक जाननेवाला वेद्यभाव नष्ट हो जायगा; क्योंकि दोनों भाव क्षणिक —उत्पाद-व्यय स्वरूप हैं तथा दोनों का एक समकाल नहीं है, अतः उसकी इच्छा निरर्थक ही है।

इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं कि धर्मी —ज्ञानी की दृष्टि में तो अपना ध्रुवस्वभावभाव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता है तथा वर्तमान में वह जिसकी इच्छा करता है, वह वेदनेलायक वस्तु तत्काल तो है नहीं तथा जबतक वेदनेलायक वस्तु उत्पन्न होती है, तबतक वेद्यरूप जो इच्छा हुई थी, वह रहती नहीं है, व्यय हो जाती है।

इस वस्तुस्थिति को ज्ञानी जानता है, अतः ज्ञानी अनागत उपभोग की वांछा नहीं करता।

देखो, धर्मी की दृष्टि तो नित्य ध्रुवस्वभाव पर रहती है, पर साथ ही वर्तमान में उसे जो इसप्रकार का वेद्यभाव (कांक्षाभाव) होता है कि मेरे पास पैसा हो, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार हो, कार-बंगला हो, इज्जत-आबरु हो, उस समय वेदकभाव स्वरूप उपर्युक्त वस्तुयें नहीं है और वे वस्तुयें उपलब्ध हों, उनका संयोग बने, उन वस्तुओं के अनुभव का काल आवे उस समय वेद्यरूप जो इच्छा थी, उसका अभाव हो जाता है, क्योंकि वे दोनों ही क्षणिक हैं और उनका समकाल नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि हाँ, अज्ञानी को तो ऐसा प्रसंग बहुत बार बनता है कि जब इच्छा हो, तब भोगने की वस्तु नहीं होती तथा जब भोगने की वस्तु का संयोग बनता है, भोगने का समय आता है, तबतक इच्छा का अभाव हो जाता है, क्योंकि वह निरन्तर इच्छा करता ही रहता है; परन्तु यहाँ अज्ञानी की बात नहीं है, यहाँ तो ज्ञानी के विषय में यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी इच्छा क्यों नहीं करता? अथवा ज्ञानी के वेद्य-वेदकभाव रूप विभाव की भावना क्यों नहीं होती? क्योंकि वह वस्तुस्थिति से परिचित हो चुका है और उसकी दृष्टि में ध्रुव त्रिकाली द्रव्य सदैव रहता है। इसकारण वह उसे क्षणिक वेद्य-वेदक भावों की वांछा नहीं होती।

देखो, गाथा में पहले वेदक व बाद में वेद्य-ऐसा क्रम है, किन्तु टीकाकार ने उसे पलट कर गद्य में पहले वेद्य व बाद में वेदक किया है। अर्थ की दृष्टि से टीकाकार का क्रम ही ठीक है। परन्तु पद्य में काव्य की दृष्टि से क्रमभंग का कोई दोष नहीं है। अर्थ करते समय पद्य का कर्ता-कर्म व क्रिया के अनुसार अन्वय किया जाता है।

यह जो ऐसी इच्छा होती है कि स्त्री-पुत्रादि हों तो ठीक, धन-सम्पत्ति हो तो ठीक—ये कांक्षमाण भाव जो वेद्यभाव हैं वे सब क्षणिक हैं; क्योंकि उत्पाद-व्यय रूप विभावभाव हैं। जबतक वेदन योग्य वेदकभाव रूप स्त्री-पुत्र-पैसा आदि संयोग आते हैं, तबतक उस वेद्यभाव रूप इच्छा का व्यय हो जाता है, नाश हो जाता है।

देखो, यहाँ यह कहते हैं कि जब अमुक वस्तु को भोगने की इच्छा है, तब वह वस्तु उपलब्ध नहीं है और जबतक वस्तु उपलब्ध हुई तब भोगने की इच्छा नहीं रही। यदि इच्छा के काल में वस्तु सदा उपलब्ध रहे तो इच्छा होगी ही क्यों? तात्पर्य यह है कि वेदन के काल में इच्छा नहीं रहती और इच्छा के काल में चेतन (उपभोग) नहीं हो पाता। इसतरह जो वेद्य-वेदक भाव हैं, उन विभावभावों का उत्पन्न व विनाश स्वभाव होने से वे क्षणिक हैं।"

अहाहा! कहते हैं कि एक ध्रुवस्वभावभाव निज ज्ञायकभावस्वरूप भगवान आत्मा का जिसे अन्तर में भान हुआ है—ऐसे ज्ञानी को परपदार्थ के भोगने की आकांक्षा का वेद्यभाव नहीं होता, क्योकि इच्छा के काल में इच्छित वस्तु नहीं है तथा जब इच्छित वस्तु प्राप्त होने का अवसर आता है तब वह इच्छा नहीं रहती, उसका व्यय हो जाता है। अतः इच्छा करना ही निरर्थक है।

अहाहा! धर्मी की तो एक ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि है। गृहस्थाश्रम में रहनेवाले समकिती को भी स्वभाव की ध्रुवता के कारण अखण्ड एक ज्ञायकभाव का ही आश्रय होता है। इसकारण वह विभावभावरूप क्षणिक वेद्य-वेदक भावों को नहीं चाहता। क्योंकि वह जानता है कि जब इच्छा तब भोगने का काल नहीं है और जब भोगने का समय आया तबतक इच्छा समाप्त हो जाती है। ऐसी निरर्थक इच्छा ज्ञानी क्यों करेगा? अज्ञानी जीव ऐसी निरर्थक इच्छाएँ किया करता है। अज्ञानी करे तो करे, पर ज्ञानी तो नित्य ज्ञायकभाव को छोड़कर क्षणिक निरर्थक भावों की भावना नहीं करता है।

प्रश्नः- तो क्या ज्ञानी के भोग भोगते हुए भी भोगने की इच्छा नहीं होती?

उत्तरः- अरे भाई! कहने का अभिप्राय और नयविवक्षा समझना चाहिए। यहाँ जो यह कहा है कि ज्ञानी के भोगने की इच्छा नहीं है, उसका अभिप्राय तो मात्र इतना है कि उसकी भोगों की रुचि नहीं रही, उसका भोगों का रस फीका पड़ गया। वह राग को रोग की तरह मानता

है। अब उसे भोग जहर की भाँति लगते हैं। पहले अधिकार के १३४ वें कलश में यह कह आये हैं कि ज्ञानी भोगों का सेवक होते हुए भी असेवक ही है।

अहाहा! इच्छा का काल और भोग की प्राप्ति का काल दोनों मेल नहीं खाते। इच्छा के समय कांक्षमाण पदार्थ नहीं होता और जबतक पदार्थ उपलब्ध होता है, उसके पहले इच्छा का अभाव हो जाता है; क्योंकि वह एकसमय की क्षणिक पर्याय है। इस कारण वह इच्छा निरर्थक ही जाती है।

प्रश्नः- फिर भी ज्ञानी वर्तमान में उपभोग की सामग्री इकट्ठी करता देखा जाता है, इसका क्या कारण है?

उत्तरः- यद्यपि यह बात पीछे २१५वीं गाथा के भावार्थ में आ चुकी है, फिर भी इसका संक्षिप्त समाधान यह है कि वैसे तो ज्ञानी को वर्तमान में जो राग हुआ है, उसे वह अपने से भिन्न ही मानता है, फिर भी कमजोरी के कारण राग है और आसानी से छूटता भी नहीं है तो उसके उपचार के रूप में ज्ञानी भोग के साधन या उपभोग सामग्री एकत्रित करता है। जिसप्रकार रोगी औषधि से इलाज करता है, उसीप्रकार ज्ञानी वर्तमान राग का इलाज करता है। परन्तु भाई! वह उस राग व इलाज—दोनों को निरर्थक ही जानता है।

प्रश्नः- देखो, एक ओर तो यह कहते हैं कि ज्ञानी के विभावभाव रूप जो वेद्य-वेदकभाव हैं, उनकी इच्छा नहीं है तथा दूसरी ओर यह कहते हैं कि ज्ञानी के राग होता है और इलाज के रूप में वह उपभोग सामग्री को एकत्रित करता है। यह बड़ी विचित्र बात है?

उत्तरः- हाँ, भाई! बात यह है कि अभी सम्पूर्ण राग तो गया नहीं है, जबतक पूरा राग टूटता नहीं है तथा अन्य कोई उपाय सूझता नहीं है तो संयोग में आई सामग्री पर उसका लक्ष्य जाता है, परन्तु उसको उस सामग्री के प्रति उत्साह नहीं है, उमंग नहीं है। उसके भोगने में या उस

रागपरिणाम में उसे रस नहीं है। वह तो उस राग को जहर समान ही जानता है। इसकारण उस सामग्री को एकत्रित करते हुए भी उसे वेद्य-वेदक भाव नहीं है।

अहाहा! ज्ञानी को तो अपने स्वानुभव का ही वेद्य-वेदकभाव है। ज्ञानी के आनन्द की अनुभूति का वेद्य-वेदकभाव है, पर का वेद्य-वेदकभाव नहीं है। देखो तो सही, तीन ज्ञान के धारी एवं क्षायिक समकिती तीर्थंकर अपनी गृहस्थ-अवस्था में यदि चक्रवर्ती भी हो तो ९६ हजार स्त्रियों के पति हों, तो भी उन्हें भोगने की इच्छा नहीं है। गज़ब की बात है। भोगने का राग तो है, परन्तु उस राग के प्रति राग नहीं है अर्थात् वे उस राग के स्वामी नहीं बनते; क्योंकि उनकी भावना तो निरन्तर स्वभावसन्मुखता की ही रहती है। और अज्ञानी तो निरन्तर इच्छायें ही किया करता है।

देखो, जब कांक्षमाण वेद्यभाव है तब भोगने में आनेवाला वेदक भाव का काल नहीं है और जबतक भोगने में आनेवाले वेदकभाव का काल आता है, तब कांक्षमाण (वांछा करने वाला) वेद्यभाव नष्ट हो जाता है, तो विनाश को प्राप्त वेद्यभाव का वेदकभाव कैसे वेदन करे? ज्ञानी को जो इच्छितभाव था, वह जब रहा ही नहीं, तो वेदकभाव किसका अनुभव करे—वेदे—जाने?

मोक्षमार्ग प्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने भी इस बात का बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है। वस्तु के भोगने के काल में भी जो पहली इच्छा थी कि "मुझे इसप्रकार भोगना है, वह बदलकर अन्य प्रकार से भोगने की इच्छा हो जाती है, जैसे कि प्रथम इच्छा हुई कि शक्करपारा हो तो ठीक? परन्तु उस समय तो शक्करपारा है नहीं, जबतक शक्करपारा आया नहीं कि इच्छा बदल गई कि ये तो रहने दो, आप तो नमकीन ले आओ। इसप्रकार इच्छायें तो बदलती ही रहती हैं। उन्हें वेदकभाव कैसे वेदे? बदलती-बदलती इच्छाओं के प्रसंग में वेदकभाव किसका वेदन करे? इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी के विभावभाव की इच्छा ही नहीं होती।

अब कहते हैं कि "यदि ऐसा कहा जाय कि वेदकभाव के पीछे (बाद में) उत्पन्न हुआ दूसरा वेदकभाव उसे वेदता है, तो वहाँ उस संबंध

में ऐसा कहते हैं कि उस दूसरे वेदकभाव के उत्पन्न होने से पहले ही वह वेद्यभाव भी विनष्ट हो जाता है। फिर वह वेदकभाव क्या वेदे? किसे वेदे? अर्थात् उसका जो इच्छित—वांछित भाव था, वह अब रहा ही कहाँ? जिसे वह वेदेगा? वह दूसरी इच्छारूप वेद्यभाव भी वेदे बिना ही निष्फल ही चला जाता है। इसलिए कहते हैं कि जिसके अन्तर में आनन्द की अनुभूति है, जिसको स्वभाव का सहज वेद्य-वेदकपना प्रगट है उसको विभाव के वेद्य-वेदकभाव की इच्छा नहीं होती। अतः ज्ञानी उन्हें निरर्थक जानकर, विभावभावरूप वेद्य-वेदक भावों की भावना ही नहीं करता। ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं।

अहाहा! वांछा के भाव के समय जिस कांक्षमाण पदार्थ को वेदन करने की इच्छा होती है, उस समय वस्तु ही नहीं रहती और जब वस्तु उपस्थित होती है तब वेदन करने की इच्छा नहीं रहती, इच्छा समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में वेदन करनेवाला भाव किसका वेदन करे?

यदि कोई ऐसा कहेगा कि उस वेदकभाव के पश्चात् उत्पन्न होने वाला दूसरा वेदकभाव वेद्यभाव उसका वेदन करेगा—जानेगा। तो उसके उत्तर में कहते हैं कि भाई! वह दूसरा वेदकभाव जबतक उत्पन्न होगा, वह वेद्यभाव उसके पूर्व ही नष्ट हो चुका होगा तो वह दूसरा वेदक भाव भी किसका वेदन करेगा। ऐसा जानकर जिसको नित्य की दृष्टि हुई है—ऐसा ज्ञानी अनित्य विभाव भावों की इच्छा नहीं करता।

प्रश्नः- परन्तु ज्ञानी इच्छा करता हुआ तो देखा जाता है।

उत्तरः-भाई! ज्ञानी इच्छा करता नहीं है, पर उसे वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण इच्छा का परिणाम हो जाता है; पर ज्ञानी को इच्छा की इच्छा नहीं होती वह तो उत्पन्न हुई इच्छा का मात्र ज्ञायक रहता है।

इसप्रकार कांक्षमाण भाव के वेदन की अनवस्था है। उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।

गाथा २१६ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छावड़ा कहते हैं कि जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब

वेदकभाव नष्ट हो जाता है, तब वह वेदकभाव किसको जाने? और जब वेद्यभाव आता है तबतक वेदकभाव विनष्ट हो जाता है तो उस वेदक के भाव के बिना वेद्यभाव को कौन जाने?

ऐसी अवस्था जानकर ज्ञानी स्वयं का ज्ञायक रहता है। पर की वांछा नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानी के वेद्य-वेदकभाव नहीं होता।

अहाहा! यहाँ कहते है कि जब वेदकभाव होता है, सामग्री को भोगने का काल होता है, तब वेद्यभाव—वांछा करने का भाव नहीं होता और जब वेद्यभाव—वांछा का काल होता है, तब वेदकभाव—भोगने का काल नहीं होता; इच्छा के काल में अनुभव का काल नहीं होता।

देखो, नेमीनाथ ने स्नान करने के बाद, एकबार श्रीकृष्ण की रानी रुक्मणी से कहा कि हमारे कपड़े धो देना, तब रुक्मणी ने उत्तर दिया कि मैं कोई आपकी पत्नी नहीं हूँ जो आप मुझे पत्नि की भांति कपड़ा धोने की आज्ञा दे रहे हो। यदि ऐसा ही हुक्म चलाने का शौक है तो शादी कर लीजिए न!

ऐसी बात-चीत करते-करते व्यंगवाण छोड़ते हुए रुक्मणी ने नेमीनाथ को शादी के लिए खूब उकसाया। उनसे शादी करने का आग्रह भी किया। तब नेमीकुमार ने 'हाँ' न करके 'ॐ' कहा, जो शादी की स्वीकृति का ही प्रतीक था।

यहां कहते हैं कि देखो जब नेमीकुमार ने शादी की स्वीकृति दी तब वेदकभाव नहीं था, और जब शादी करने गये तथा वहाँ बन्धनबद्ध पशुओं को देखा, तब विचार आया कि अरे यह क्या? हमारी शादी के प्रसंग से इन मूक प्राणियों को ऐसा प्रतिरोध—बंधन? कि जो अपनी प्रिय संतान से विछुडकर ऐसे दीन-हीन भाव से रंभा रहे हैं—परेशान हो रहे हैं? बस, इतना विचार आते ही जो शादी की इच्छा थी, वह समाप्त हो गई, राग वैराग्य में परिणत हो गया। गये तो शादी करने थे, पर परिणाम बदलते ही सारथी को आदेश दिया कि रथ को वापिस ले चलो। जब ऐसी वेद्यरूप वृत्ति हुई—इच्छा हुई, तब वेदकभाव रूप शादी का प्रसंग नहीं और जब शादी का प्रसंग आया तब शादी की वृत्ति—इच्छा नष्ट हो गई।

प्रश्नः- यह तो ठीक है, पर सम्यग्दृष्टि को चारित्र व त्याग का मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिए न ?

उत्तरः- हाँ, अवश्य करना चाहिए; परन्तु भाई! किसका त्याग? राग के त्याग का मार्ग तो अन्दर में सम्यग्दर्शन प्रगट होने के साथ हो ही जाता है और अस्थिरता के त्याग का मार्ग (चारित्र) तो अन्दर में स्थिरता के अभ्यास से अपने स्वकाल में होगा। बाकी रही बाह्यत्याग की बात, सो अकेला बाहर का त्याग कोई वास्तविक त्याग नहीं है।

देखो, यह विभावभाव का वेद्य-वेदकपना नेमीनाथ भगवान पर लागू नहीं पड़ता। यह तो उदाहरण के रूप में तर्क प्रस्तुत किया है, फिर भी उनको जो वृत्ति आई, उसके वे तो ज्ञाता ही रहे, कर्ता नहीं हुए। अहाहा! जरा-सी वृत्ति आई और लग्न की 'हाँ' की, तो भी वह उस वृत्ति के ज्ञाता ही रहे।

यहाँ कहते हैं कि जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता और जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव विनश जाता है, तो फिर वेदकभाव किसका वेदन करे?

पुनः कहते हैं कि और जब वेद्यभाव आता है अर्थात् जब दूसरा वांछा का काल आता है तबतक वेदकभाव विनश जाता है, अर्थात् तब अनुभव का काल नहीं होता, तो फिर वेदकभाव के बिना वेद्य का वेदन कौन करेगा?

ऐसी अव्यवस्था या अनवस्था जानकर अर्थात् कहीं भी मेल खाता न देखकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, वांछा नहीं करता।

प्रश्नः- पर ज्ञानी के इच्छा होती तो है, उसका क्या कारण है?

उत्तरः- हाँ, इच्छा तो होती है, परन्तु यह इच्छा मेरे हो और मैं इसे भोगूँ—ऐसी चाह व उसके प्रति एकत्व-ममत्व ज्ञानी के नहीं होता। मात्र साधारण वृत्ति उठती है, उस वृत्ति का भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। वह भी इच्छा के काल में इच्छा की मौजूदगी है, इसलिए उसे जान

लेता है, पर तन्मय नहीं होता। स्व-पर प्रकाशक रूप से परिणत आत्मा की ज्ञानपर्याय स्व को स्वरूप से एवं पर का पररूप से जानती हुई परिणमित होती है। अहाहा! ज्ञानी का स्व व पर को जानता हुआ ज्ञान स्वयं से प्रगट होता है। ज्ञानी राग में तन्मय होकर राग को नहीं जानता, वह तो राग को पृथक् पररूप से ही जानता है।

बापू! यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है, विचारे लोगों को मूल मार्ग की खबर ही नहीं है; बस, इसी कारण बाहर के व्रत, तप, भक्ति आदि करके संतुष्ट हो जाते हैं। परन्तु भाई! ये सब तो शुभराग के प्रकार हैं, ये धर्म नहीं है। इनसे धर्म की प्राप्ति भी नहीं होती।

देखो, ज्ञानी के ज्ञान की अपेक्षा से तो अनुभव के काल में जितना राग हुआ, उतनी मात्रा में दुःख भी अवश्य होता है, फिर भी दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा से तो ज्ञानी उसका ज्ञाता ही है। परन्तु दृष्टि के साथ जो ज्ञान है, उस ज्ञान की अपेक्षा से उसे किंचित् राग का व रागजनित दुःख का वेदन है। ज्ञानी भी "मुझे दुःख का वेदन है" ऐसा जानता है, अर्थात् वह दुःख का—राग का मात्र ज्ञाता-दृष्ट रहता है। उसमें तन्मय नहीं होता।

अहाहा! जन्म-मरण के दुःख से छूटने का मार्ग। जिसके फल में सादि-अनन्त समाधि सुख में अनन्त-अनन्त सुख का उपाय है। वही सच्चा मोक्षमार्ग है, सच्चे सुख का उपाय है। इसी से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण-चारित्र का अंश भी प्रगट हो जाता है। अनन्तानुबंधी का अभाव होने से स्वरूपाचरण में किंचित् स्थिरता का अंश होता है, परन्तु उसे चारित्र संज्ञा प्राप्त नहीं होती। क्योंकि वहाँ देशचारित्र या सकलचारित्र नहीं होता।

प्रश्नः- क्या वर्तमान में शुद्धोपयोग होता है?

उत्तरः- अरे भाई! यदि वर्तमान में शुद्धोपयोग नहीं होता हो तो स्वानुभूति भी संभव नहीं है; क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में जो आत्मानुभूति होती है, वह शुद्धोपयोग में ही होती है। इसकारण यदि वर्तमान में शुद्धोपयोग न माना जायेगा तो वर्तमान में किसी को सम्यग्दर्शन न होने

से चतुर्थ गुणस्थान ही नहीं बनेगा। जब चतुर्थ गुणस्थान नहीं होगा तो पांचवाँ-छठवाँ तो कहाँ से होगा? अतः यह तो अत्यन्त स्पष्टरूप से आगमसिद्ध बात है कि वर्तमान में शुद्धोपयोग होता है।

प्रश्नः- आत्मा तो नित्य है, फिर वह दोनों भावों का वेदन क्यों नहीं कर सकता है? आत्मा स्वयं तो नित्य है अर्थात् वांछा के काल में भी आत्मा है और भोगने के काल में भी आत्मा है, इस कारण वह दोनों भावों को वेद सकता है, इसमें क्या दिक्कत है? जब ऐसा है तो फिर ज्ञानी के वांछा करने में भी कोई कठिनाई नहीं आनी चाहिए।

उत्तरः- अरे भाई! वेद्य-वेदकभाव विभावभाव हैं और विकारी भावों का—विभावभावों का करना व भोगना धर्मी—ज्ञानी जीवों के होता नहीं है। नित्य रहते हुए भी विकार की वांछा का और भोगने के काल का भी धर्मी ज्ञाता ही है। इसप्रकार वह अनित्यभावों से भिन्न नित्य है।

वेद्य-वेदकभाव विभावभाव हैं और नित्यता तो स्वभावभाव है। ज्ञानी स्वभावभाव की अपेक्षा से नित्य है, उसकी जो नित्यता है, वह कभी अनित्यरूप नहीं होती, क्योंकि वह तो स्वभाव की अपेक्षा की गई बात है और जो वेद्य-वेदकपना है वह विभावपर्याय का धर्म है, नित्यस्वभाव अनित्य-विभाव का वेदन कैसे करे? यदि करने लगे तो उसकी नित्यता क्या? और जब वह विभाव का वेदन करे तो उसका स्वभाव ही खतरे में नहीं पड़ जायेगा? वह स्वभाव अनित्यता का वेदन नहीं करता। पर्याय का वेदन पर्याय में होता है, स्वभाव में नहीं।

अहाहा! ज्ञानी तो निजस्वरूप का—नित्यानंद प्रभु आत्मा का अपनी ज्ञानपर्याय में ही वेदन करता है। आत्मा ही वेद्य है और आत्मा ही वेदक है अर्थात् स्वयं ही तो वेदन करने योग्य है और स्वयं ही वेदन करनेवाला है। विकार का करना और वेदना ये दोनों ही ज्ञानी के नहीं हैं। ज्ञानी के तो केवल इनका जानना है। यहाँ तो दृष्टि की अपेक्षा व द्रव्य की अपेक्षा बात है न? जब ज्ञान अपेक्षा बात करें तब तो ऐसा ही समझना कि जो राग होता है, वह स्वयं अपनी योग्यतारूप परिणाम से

हुआ है और स्वयं वह रागपरिणाम ही उसका भोक्ता है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

प्रश्नः- एक ओर तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं होता और दूसरी ओर कहते हैं कि दशवें गुणस्थान तक उसे राग है और कर्मबंध भी होता है, सो यह किसप्रकार है?

उत्तरः- भाई! जब दृष्टि व दृष्टि के विषय की ओर से अर्थात् अभेद निर्विकल्प स्वभाव व स्वभाव की दृष्टि से वर्णन हो तो ऐसा कहा जाता है कि धर्मी का स्वभावभाव व्यापक व वर्तमान स्वभावपर्याय उसका व्याप्य है, विकारीपर्याय स्वभाव का व्याप्य नहीं है। इसकारण स्वभाव की दृष्टि में धर्मी को राग व रागजनित बंध नहीं है—ऐसा कहा है। परन्तु जिस समय दृष्टि होती है, उसी समय ज्ञान भी साथ में होता है। दृष्टि तो अकेली अभेद, निर्विकल्प (स्वभाव) है, किन्तु ज्ञान उस काल में भेद व अभेद दोनों को जानता है। उस समय का प्रगट हुआ ज्ञान ऐसा जानता है कि पर्याय में जितना राग है, वह अपना परिणमन है तथा वह स्वयं उसका कर्ता है। राग करने लायक मेरा कर्तव्य है—ऐसा नहीं, किन्तु परिणमन अपेक्षा से ज्ञानी उसका कर्ता है।

अहाहा! आत्मा जिसके अनुभव में आ गया, वह ज्ञानी जीव निष्फल वांछा नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि वेद्य-वेदक में कालभेद होने से वांछित भोग कभी होता ही नहीं है।

अब कहते हैं कि जब मनोवांछित पदार्थ वेदन में आता ही नहीं है तो फिर वांछा करना क्या अज्ञान नहीं है?

यहाँ निष्कर्षरूप में निम्नांकित तीन बातें कही गई हैं—

(१) वेद्य व वेदकभाव विभाव हैं, विनाशीक हैं, वे स्वभावभाव नहीं है।

(२) इसलिए ज्ञानी उन्हें करता व भोगता नहीं है।

(३) जब मनोवांछित भाव का वेदन संभव नहीं है, तब फिर वांछा करना अज्ञान ही है।

यह बहुत ही सूक्ष्म व गंभीर बात है, जिसका कोई पार नहीं है, पर ज्ञान के बाहर कुछ भी नहीं है, अतः पुरुषार्थ से यथार्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्
वेद्यते व खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान्
सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति॥१४७॥

श्लोकार्थ:- (वेद्य-वेदक-विभाव-चलत्वात्) वेद्य-वेदकरूप विभावभावों की चलता (अस्थिरता) होने से (खलु) वास्तव में (कांक्षितम् एव वेद्यते न) वांछित का वेदन नहीं होता; (तेन) इसलिये (विद्वान् किञ्चन कांक्षति न) ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, (सवर्तः अपि अतिविरक्तिम् उपैति) सबके प्रति अत्यन्त विरक्तता को (वैराग्यभाव को) प्राप्त होता है।

भावार्थ:- अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावों में काल भेद है, उनका मिलाप नहीं होता, (क्योंकि वे कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिये अस्थिर हैं); इसलिये ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे?

कलश १४७ पर प्रवचन

देखो, वेद्य-वेदकभाव विभावभाव हैं, कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आत्मा के स्वभाव के विपरीत—विरुद्धभाव हैं, वे चल—अस्थिर और क्षणिक हैं। क्षणिक होने से दोनों भावों में मेल-मिलाप नहीं है। जब वेद्यरूप वांछा का भाव होता है, तब वेदकभाव का काल नहीं होता और जब वेदकभाव होता है तब वेद्य वांछा का भाव नहीं रहता, वह विनश जाता है। इसलिए उन दोनों में मेल नहीं बैठता। इसकारण वस्तुतः

वांछित का वेदन संभव ही नहीं है। अतएव आत्मज्ञानी (विद्वान) किसी भी वस्तु की किंचित् भी वांछा नहीं करता।

जो वांछा करता है, वह ज्ञानी कैसा? जिसे राग में रस है, राग की वांछा है, उसे तो भगवान आत्मा के प्रति द्वेष है, क्रोध है। जिसे भगवान आत्मा की रुचि है, वह आत्मज्ञानी ही सच्चा विद्वान है, ऐसा विद्वान राजपद–देवपद आदि कुछ भी नहीं चाहता।

ज्ञानी की विषयों में से सुखबुद्धि टूट गई है। देखो, समकिती इन्द्र एक भवावतारी है और उसके इन्द्राणी सहित करोड़ों अप्सरायें हैं; परन्तु उसकी उनमें से सुखबुद्धि टूट गई है। उसे तो भगवान आत्मा में सुखबुद्धि प्रगट हो गई है। इससे उसके वर्तमान में जो किंचित् राग की वृत्ति है, उसे वह मात्र जानता ही है, वह उसका कर्ता नहीं होता एवं वह उसकी वांछा भी नहीं करता।

देखो, विद्वान शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान होता है, विद्वान अर्थात् ज्ञानवाला। लक्षण-लक्ष्य की अभेददृष्टि से आत्मा को भी ज्ञान कहते हैं। समयसार में तो ज्ञान को ही आत्मा कहा है। प्रवचनसार में भी ऐसा कहा है कि "ज्ञान वह आत्मा तथा आत्मा वह ज्ञान, दर्शन चारित्र व आनन्द भी है। वहाँ जुदी अपेक्षा है। यहाँ तो स्वभाव व स्वभाववान में ज्ञान की ही आत्मा है। यहां कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा को जो जानता है, वह विद्वान है। वह कुछ चाहता नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि कालभेद होने से वांछित वस्तु संभव नहीं है।

प्रश्नः- एक ओर यह कहा जाता है कि समकिती को कुछ वांछा नहीं है और दूसरी ओर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्षायिक समकिती छह खण्ड का राज्य करता है, इतना ही नहीं, छहखण्ड के राजाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध करने को निकल पड़ता है, युद्ध भी करता है और जीत की खुशियां भी मनाता है। यह सब क्या है?

उत्तरः- बापू! यह बात बिल्कुल भिन्न है। करे कौन? वह राग तो वर्तमान राग की भूमिका में ज्ञानी को आ जाता, वह कर्ता नहीं है। वह तो अपने में जो राग उत्पन्न हो गया. उसका भी ज्ञाता-दृष्टा रहता

है। वह राग को करने योग्य नहीं मानता है। " वह मेरा कर्तव्य है या स्वरूप है—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। ज्ञानी को राग का कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं है। वे सबके प्रति अतिविरक्त रहते हैं।

देखो, पहले ज्ञान की दृष्टि से बात की थी, अब ज्ञान की वैराग्य परिणति की बात करते हैं, कहते हैं कि ज्ञानी संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त रहते हैं। ज्ञानी के ज्ञान व वैराग्य दोनों होते हैं। जगत से अत्यन्त उदासीन ज्ञानी जगत के केवल ज्ञायक-ज्ञायक-ज्ञायक ही रहते हैं। आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी वेद्य-वेदकभाव की स्थिति से भली-भांति परिचित होते हैं, अतः वे जगत में किसी भी पदार्थ की चाह नहीं करते।

समयसार गाथा २१७

तथाहि-

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो॥२१७॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१७॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमित्ताः, यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः। यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः, यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः। अथामीषु सर्वेष्वपिज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्व भावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात्।

इसप्रकार ज्ञानी को सर्व उपभोगों के प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं।

संसारतनसम्बन्धि, अरु बन्धोपभोगनिमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसान-उदय जु, राग होय न ज्ञानि को॥२१७॥

गाथार्थः- (बन्धोपभोगनिमित्तेषु) बन्ध और उपभोग के निमित्तभूत (संसारदेहविषयेषु) संसारसम्बन्धी और देहसम्बन्धी (अध्यवसानोदयेषु) अध्यवसान के उदयों में (ज्ञानिनः) ज्ञानी के (रागः) राग (न एव उत्पद्यते) उत्पन्न नहीं होता।

टीकाः- इस लोक में जो अध्यवसान के उदय हैं, वे कितने ही तो संसारसम्बन्धी हैं और कितने ही शरीरसम्बन्धी हैं। उनमें से जितने संसारसम्बन्धी हैं, उतने बन्ध के निमित्त हैं और जितने शरीरसम्बन्धी हैं उतने उपभोग के निमित्त हैं। जितने बन्ध के निमित्त हैं उतने तो राग-द्वेष-मोहादिक हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं उतने सुख-दुखादिक हैं। इन सभी में ज्ञानी के राग नहीं है; क्योंकि वे सभी

नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं, इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाले ज्ञानी के उनका निषेध है।

भावार्थ:- जो अध्यवसान के उदय संसारसम्बन्धी हैं और बन्धन के निमित्त हैं वे तो राग, द्वेष, मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसान के उदय देहसम्बन्धी हैं और उपभोग के निमित्त हैं, वे सुख-दुख इत्यादि हैं। वे सभी (अध्यवसान के उदय), नाना द्रव्यों के (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव हैं; ज्ञानी का तो एक ज्ञायकस्वभाव है। इसलिये ज्ञानी के उनका निषेध है; अतः ज्ञानी को उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है। परद्रव्य परभाव संसार में भ्रमण के कारण हैं; यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा?

गाथा २१७ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ इस गाथा में यह कहते हैं कि ज्ञानी को सर्व उपभोगों के प्रति वैराग्य है। ज्ञानी कहते ही उसे हैं, जिनके अन्तर में निर्मलानन्द अमृतस्वरूप भगवान आत्मा की अनुभूति हुई है और निराकुल आनन्द का स्वाद आया है। ऐसे ज्ञानी को भोक्तासम्बन्धी अर्थात् शरीरसम्बन्धी राग में अथवा कर्तासम्बन्धी राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें उसका अपनत्व नहीं है।

भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, क्योंकि यह निर्जरा अधिकार है न? यहाँ यह बताया जा रहा है कि निर्जरा किसे होती है? जिसको अन्दर में अपने ज्ञानानंदस्वरूप और अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा का आश्रय प्राप्त हो गया है, उस अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव को चतुर्थ गुणस्थान से ही निर्जरा प्रारंभ हो जाती है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को बन्धन के निमित्त राग-द्वेष-मोहादि में तथा उपभोग के निमित्त सुख-दुःख आदि में राग नहीं है, क्योंकि उसे इनमें एकत्व-ममत्व नहीं है।

अहा....! अनादिकाल से इस जीव ने अपने चिदानन्दमय आत्मद्रव्य का तो स्पर्श (अनुभव) किया नहीं, इसके विपरीत रागादि के विकल्पों का स्पर्श (अनुभव) करके ऐसा मान लिया कि 'मैं धर्म कर रहा हूँ, मैं

धर्मात्मा हूँ।' परन्तु भाई! धर्म तो वस्तु का स्वरूप है। अहा....! अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय प्रभुता, अतीन्द्रिय पुरुषार्थ—ये आत्मा के धर्म हैं। ऐसे धर्मों से अभेद धर्मी भगवान आत्मा पर जिसकी दृष्टि पड़ती है, वह ज्ञानी है। उस ज्ञानी के सभी प्रकार के रागादि विभावभाव नहीं हैं। न तो उसके संसारसम्बन्धी कर्तृत्व का राग है और न शरीरसम्बंधी भोक्तृत्व का राग है, क्योंकि अपने निराकुल आनंद के स्वाद के समक्ष उसके कर्तृत्व व भोक्तृत्व सम्बन्धी सभी प्रकार के राग का रस फीका पड़ गया है, पर के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का उत्साह सम्पूर्णतया समाप्त हो गया है। क्योंकि जिसकी आत्मा में सुखबुद्धि हुई है, उसकी रागादि विभावभावों में से एवं पर पदार्थों में से सुखबुद्धि छूट जाती है। इसलिए ज्ञानी के निर्जरा होती है।

निर्जरा तीन प्रकार की कही गई है—

(१) कर्म की निर्जरा (२) अशुद्धता की निर्जरा एवं (३) शुद्धोपयोग की वृद्धिरूप निर्जरा।

इसप्रकार ज्ञानी के तीनों तरह की निर्जरा होती है।

प्रश्नः- ज्ञानी के अशुभराग व विषय-कषाय में से सुखबुद्धि टूट गई, यह तो ठीक; पर शुभराग व शुभकार्यों में तो उसकी रुचि व प्रयत्न देखा जाता है न?

उत्तरः- अरे भाई! ज्ञानी की शुभ व अशुभ किसी में भी सुखबुद्धि व कर्तृत्वबुद्धि नहीं रही। पहले कह आये हैं न कि समस्त संसारसम्बन्धी व शरीरसम्बन्धी जितने भी परिणाम हैं, उन सबमें ज्ञानी को राग नहीं है।

देखो, टीका में पहले कहा है कि जितने संसारसम्बन्धी अध्यवसान हैं, वे सब बन्धन में निमित्त हैं तथा जितने शरीरसम्बन्धी हैं वे सब उपभोग में निमित्त हैं। उसके आगे फिर कहा है कि जो बन्धन में निमित्त हैं, वे तो राग-द्वेष-मोहादिक हैं। अहा! राग जो आस्रवतत्त्व है, उसे अपना स्वरूप मानना मिथ्यात्व है। पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करना राग-द्वेष है। भाई! कोई पदार्थ तो अनिष्ट है नहीं, क्योंकि पदार्थ

तो सभी ज्ञेय हैं। ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्ट का भेद डालना ही राग-द्वेष है। ऐसे राग-द्वेष-मोह के परिणाम ज्ञानी के नहीं होते।

कोई यह कह सकता है कि सम्यग्दर्शन की जरूरत से अधिक महिमा गा दी गई है; परन्तु भाई! सम्यग्दर्शन चीज ही ऐसी है, उसकी जितनी भी महिमा गाई जाय, कम ही है। भाई! वीतराग का मार्ग तो वीतरागता से ही उत्पन्न होता है, शुभराग से नहीं। पंचास्तिकाय की १७२वीं गाथा में आता है कि समस्त शास्त्रों का तात्पर्य एक वीतरागता ही है, चारों अनुयोगों का सार एक वीतरागता ही है। यह वीतरागता स्व के आश्रय से ही प्रगट होती है, पर के आश्रय से तो राग ही होता है। कहा भी है—'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः'। इस वीतरागता को प्राप्त करने का उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन (आत्मानुभूति) ही तो है।

ज्ञानी के इन संसार और शरीरसम्बन्धी कर्तृत्व-भोक्तृत्व में राग न होने का कारण स्पष्ट करते हुए अब कहते हैं कि वे सब शुभाशुभ भाव नानाद्रव्यों के विभाव स्वभाव होने से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव से भिन्न हैं, अतः ज्ञानी के उन शुभाशुभ भावरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व के परिणामों में राग नहीं होता।

देखो, भगवान आत्मा एक ज्ञानानंदस्वाभावी है और ये शुभाशुभ भावरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व के परिणाम संयोगों के लक्ष्य से उत्पन्न होने से अनेक द्रव्यों के विभावस्वभावरूप हैं, संयोगीभाव होने से उन्हें अनेक द्रव्यों के स्वभावरूप व्यभिचारी भाव कहा गया है। शुभाशुभ भाव आत्मद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु संयोग के वश से उत्पन्न होते हैं, इसकारण वे अनेक द्रव्य के स्वभाव हैं।

अहा! आचार्य भव्यजीवों को संबोधित करके कहते हैं कि प्रभु! तू भगवान है, प्रत्येक आत्मा निश्चय से भगवानस्वरूप ही है। अहाहा....! निश्चय से यह जो शुद्ध एक ज्ञायकभाव है, वही आत्मा है और ये रागादिभाव आस्रव हैं, अनेक द्रव्यस्वभाव हैं, जीवस्वभाव नहीं हैं। कर्म आदि अजीव हैं, वे भी सब आत्मा से भिन्न हैं। आस्रवभाव भी आत्मा से भिन्न हैं। यदि ऐसा न हो तो नवतत्त्व ही नहीं रहेंगे। इसलिए यह स्पष्ट है कि आस्रव आदि से भिन्न ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द प्रभु निजात्मा

नित्य भगवानस्वरूप ही है। अहाहा....। सर्व आत्मायें स्वभाव से तो भगवान स्वरूप ही हैं। ये नारकी, तिर्यन्च, मनुष्य आदि तो कर्म के निमित्त की उपाधि के बोल हैं तथा ये शुभाशुभभाव के कर्ता-भोक्तापने का भाव भी कर्म के निमित्त की उपाधि से उत्पन्न हुए औपाधिकभाव हैं, अनेक द्रव्य-स्वभाव हैं। ये कहीं जीव के सत्यार्थ स्वरूपभाव नहीं हैं, वे जीव के स्वरूपभूत नहीं है।

आत्मा एक ज्ञायकभाव त्रिकालशुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव है, जबकि कर्ता-भोक्तापन के रागादिभाव नानाद्रव्यों के स्वभाव हैं। परसंयोग से उत्पन्न हुए वे सब परस्वभाव अनेकद्रव्यों के स्वभावरूप हैं। ज्ञायकस्वभाव में उनका अभाव है।

अहाहा....। कैसी गजब की गाथा है। एक ही गाथा में कितना सार भर दिया है। एक-एक गाथा में सम्पूर्ण समयसार का सार भर दिया है और ऐसी-ऐसी ४१५ गाथायें हैं। अहो! यह समयसार तो जगत का अद्वितीय चक्षु है।

यहाँ कहते हैं कि संसारसम्बन्धी कर्तापने के भाव राग-द्वेषादि तथा शरीरसम्बन्धी भोक्तापने के भाव सुख-दुःखादि कल्पनायें—इन सब में ज्ञानी को राग नहीं है, रुचि नहीं है। जिसे शुद्ध ज्ञायक की रुचि जगी, उसे राग की रुचि नहीं रहती। जिसप्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं, ठीक उसीप्रकार जिसे ज्ञान की रुचि नहीं है, उसे भगवान आत्मा की, ज्ञायक की रुचि नहीं होती। और जिसे ज्ञायक की रुचि हो जाती है, उसे राग की रुचि नहीं रहती। दूसरे प्रकार से कहें तो ज्ञायकभाव में राग का तथा राग में शुद्ध ज्ञायकभाव का अभाव है।

यह उपर्युक्त बात किसी काल विशेष की नहीं है, बल्कि यह बात तो त्रिकाल की है; क्योंकि राग तो आस्रव है। आस्रवभाव ज्ञायकभावरूप नहीं होता। यदि आस्रव ज्ञायकभावपने हो तो नवतत्त्व भिन्न-भिन्न कैसे रह सकेंगे? छठवीं गाथा के भावार्थ में कह आये हैं कि यदि शुभाशुभभाव के स्वभावरूप ज्ञायक हो जाये तो वह आस्रव की भाँति ही जड़ हो जायगा ; क्योंकि शुभाशुभ भाव ज्ञान स्वभाव से रिक्त है। भाई! राग स्वयं को भी नहीं जानता और साथ में रहे ज्ञायक को भी नहीं जानता।

यह तो अन्य (ज्ञायक) द्वारा जानने में आता है; इसलिए यह अचेतन है, जड़ है, अजीव है। ज्ञायक में उसका प्रवेश नहीं। ऐसा एक ज्ञायक ही आत्मा का स्व है।

अब ज्ञानी के स्वरूप का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि अहाहा....! ज्ञानी मात्र एक ज्ञायकस्वभाववाला होता है, व्यवहार रत्नत्रय के रागवाला नहीं। बापू! बात बहुत सूक्ष्म है। देखो, निश्चय व व्यवहार का विषय परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि वह परस्पर विरुद्ध बात का निरूपण करता है। यदि दोनों नय एक सरीखे हों तो दो की क्या जरूरत है फिर तो एक से ही काम चल जायेगा। लेकिन दोनों में विषय के भेद से विरुद्धता है। जिसे निश्चय स्वीकारता है, व्यवहार उसका निषेध करता है। जिसको व्यवहार स्वीकारता है, उसे निश्चय नहीं स्वीकारता। ज्ञानी निश्चय के विषय का तो आश्रय लेता है और व्यवहार का मात्र ज्ञायक बनकर ज्ञाता-दृष्टा रहता है। ज्ञानी व्यवहार का आश्रय नहीं करता, मात्र उसे जानता है। इसी से तो कहा है कि ज्ञानी एक ज्ञायकस्वभाववाला है। ज्ञानी के व्यवहार के भावों का निषेध है, उसके व्यवहार का आश्रय नहीं है।

इसमें दो बातें आई—(१) अस्ति से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है, वह ज्ञानी है। तथा (२) नास्ति से ज्ञानी के राग का निषेध है, उसे राग का आश्रय नहीं है।

यह बात तो पहले आ ही गई कि जितना संसारसम्बन्धी कर्तृत्व है, वह राग-द्वेष-मोहादिक है तथा जितने उपभोग के निमित्त हैं वे सब सुख-दुःखादिक हैं। ये राग-द्वेष-मोहादि के कर्तापन का व सुख-दुःखादि के भोक्तापन का जो परिणाम है, उन सबका ज्ञानी के निषेध है, ज्ञानी उनका आश्रय नहीं करता।

हाँ, अज्ञानी अपने अज्ञानभाव से रागादि का भोक्ता होता है, परन्तु पर—शरीर, वाणी, मकान, धन, भोजन आदि का भोक्ता तो अज्ञानी भी कभी नहीं हो सकता। वह तो केवल मानता है कि 'मैं पर को करता हूँ व भोगता हूँ।' इसीकारण वह उसके राग का कर्ता-भोक्ता होता है, पर

का नहीं; क्योंकि पर का तो आत्मा स्पर्श ही नहीं करता। तथा ज्ञानी तो रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

प्रश्नः- क्या ज्ञानी को इन मोटर, बंगला, धन-वैभव आदि में कुछ भी आनन्द नहीं आता? हमें तो ऐसा ही लगता है कि इन सब में बहुत मज़ा है, आनंद है; तभी तो लोग इनके संग्रह में ही पूरी शक्ति लगा रहे हैं?

उत्तरः- भाई! इन मोटर, बंगला या वैभव वगैरह को तो कोई भोगता ही नहीं है; क्योंकि ये सब तो जड़—अचेतन हैं, धूल हैं। जड़ पुद्गल के हैं। इससे आत्मा में क्या बढ़ता? हाँ, अज्ञानी इनको ठीक मानकर इनमें जो रागादि कषाय करता है, उस कषायपरिणाम का वह कर्ता-भोक्ता बनता है। बस, उसके पल्ले तो यही अज्ञानभाव पड़ता है।

अहाहा....! आत्मा चैतन्य चमत्कारस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ अनन्तशक्तियों का भण्डार है, आत्मा में एक प्रभुत्वशक्ति है, उससे आत्मा अपने अखण्डित प्रताप से सदा स्वतंत्र शोभायमान है। इस प्रभुत्वशक्ति—ईश्वरशक्ति का प्रत्येक गुण व शक्तियों में रूप है। जिसतरह आत्मा में ज्ञानगुण है, उसीतरह कर्तागुण है, कर्तागुण ज्ञानगुण में नहीं है, पर कर्तागुण का रूप ज्ञानगुण में है; क्योंकि ज्ञान में ज्ञान का कर्तृत्व स्वतंत्र अपने से है, कर्तागुण के आधीन नहीं। यदि ज्ञान में कर्तागुण का रूप न होता तो ज्ञान को ज्ञानरूप होने में कर्तागुण के पराधीन होना पड़ता। जिसतरह द्रव्य स्वतंत्र है, उसीतरह प्रत्येक गुण भी स्वतंत्र है। एक गुण दूसरे गुण के आधीन नहीं है; क्योंकि सभी गुणों में एक-दूसरे का रूप है।

पण्डित दीपचंदजी ने चिद्विलास में इसका अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

"आत्मा ज्ञायकभावस्वरूप अनंतगुणों का पिण्ड है। आकाश के जितने प्रदेश हैं, इनसे भी अनन्तगुणें आत्मा में गुण हैं। उन एक-एक गुणों में दूसरे गुणों का रूप है। यद्यपि एक गुण में दूसरा गुण नहीं है, पर एक-एक गुण में दूसरे गुणों का रूप है। जैसे—ज्ञानगुण में ईश्वर शक्ति का रूप है अर्थात् ज्ञानगुण स्वयं अपने अखण्ड प्रताप से स्वतंत्र

शोभायमान है। इसीप्रकार दर्शनगुण में ईश्वरशक्ति का रूप है, पर दर्शनगुण में ईश्वरशक्ति नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा अनंत महिमावंत पदार्थ है।

भाई! अज्ञानी को इन बंगले, मोटर, धन सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रादि नोकर-चाकर आदि जड़-वैभव में रुचि होने के कारण उस अनन्त महिमावन्त चित्चमत्कार भगवान आत्मा की महिमा ही नहीं है; क्योंकि वह इनमें सुख माने बैठा है। जबकि! धन-सम्पत्ति आदि की आत्मा में सर्वथा नास्ति है। तथा पुण्य व राग आस्रव है, उसकी भी शुद्ध चैतन्य में नास्ति है। अहाहा....! आत्मद्रव्य एक ज्ञायकरूप से अस्तिस्वरूप है तथा दूसरे अनन्तद्रव्यों की व अन्य अनंत परभावों की उसमें नास्ति है। ज्ञानी के तो राग का कर्तृत्व भी नहीं है और भोक्तृत्व भी नहीं है, वह तो मात्र उन सबका ज्ञाता-दृष्टा है।

नाटक समयसार में कहा है—

करै करम सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा।।
जो करता नहिं जानैं सोई, जानै सो करता नहिं होई।।

चाहे राग हो, शरीर हो, ज्ञानी तो उनका ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। जो रागादि व शरीरादि परद्रव्य व परभावों का कर्ता बनता है, वह तो अज्ञानी है। ज्ञानी को पर का ज्ञाता भी व्यवहार से कहा जाता है, निश्चय से तो वह केवल अपने शुद्ध चैतन्यद्रव्य का ही ज्ञाता है।

ये अरहंतादि पंचपरमेष्ठी पांचों ही पद भगवान आत्मा के ही पद हैं। आत्मा ही अरहंतादिस्वरूप है। ये परमेष्ठी के पद आत्मा की ही पर्यायें हैं, ये राग या शरीर की पर्यायें नहीं हैं। राग में या पर के स्वरूप में तो पाँच परमपद हैं ही नहीं।

गाथा २१७ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि राग-द्वेष-मोह का करना कर्तृत्व है तथा ये बन्ध के कारण हैं, संसार के कारण हैं। राग चाहे पुण्यरूप हो या पापरूप हो; परन्तु इसमें कर्तापने का भाव मिथ्याभाव है और वह बंध का कारण है। भगवान आत्मा में संसारसम्बन्धी कर्तृत्वरूप जो अध्यवसानभाव

हैं. वे बंध के कारण हैं तथा वे राग-द्वेष-मोह हैं। तथा जो देहसम्बन्धी अध्यवसानभाव हैं, भोक्तृत्व के भाव हैं, वे सुख-दुःखादि हैं। इसमें पहले कर्तृत्व की बात कही, पश्चात् भोक्तृत्व की बात कही है।

अब इसी विषय सम्बन्धी सिद्धान्त कहते हैं।

वे सब अध्यवसान के उदय नानाद्रव्यों के स्वभाव हैं।

वे सब अर्थात् संसारसम्बन्धी मिथ्यात्व व पुण्य-पाप के भाव बंध के कारण है तथा भोगसम्बन्धी सुख-दुःख सभी "नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं", वे एक शुद्ध चैतन्यद्रव्य के स्वभाव नहीं हैं। राग-द्वेष-मोह के भाव व सुख-दुःख की कल्पना—ये सब कर्म के संयोग के निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, इसकारण ये व्यभिचारीभाव हैं। गाथा २०३ में भी उन्हें व्यभिचारीभाव कहे हैं। कर्म के निमित्त के वश जो भाव होते हैं वे व्यभिचारीभाव हैं और शुद्ध चैतन्यस्वरूप एक ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा के वश से उत्पन्न हुए निर्मलपरिणाम अव्यभिचारी मोक्षमार्ग के परिणाम हैं।

भाई! व्यवहार रत्नत्रय के भाव भी यदि कर्ताबुद्धि से हुए हैं तो वे भी बन्धभाव हैं। व्यवहार रत्नत्रय के परिणाम शुभभाव हैं और उनमें कर्तृत्वबुद्धि संसारसम्बन्धी बन्ध का भाव है तथा त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ शुद्ध रत्नत्रय का परिणाम द्रव्य स्वभाव होने से अव्यभिचारीभाव है।

यह बात पुण्य-पाप अधिकार के कलश १०६-१०७ में भी आ गई है कि ज्ञान का होना एकद्रव्यभाव होने से शुद्ध है, पवित्र है, मोक्ष का कारण है, जबकि कर्म (राग) का होना अन्य द्रव्य के स्वभाव रूप होने से मोक्ष का कारण नहीं है, बंध का कारण है।

भाई! यह तो सिद्धान्त है कि "स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः" यद्यपि निश्चयनय व व्यवहारनय के विषय में विरोध है, दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। निश्चय का विषय ज्ञायकभाव से मंडित एक शुद्ध आत्मद्रव्य है तथा उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ११वीं गाथा से इसकी पुष्टि होती है। "भूदत्थ मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि

जीवो" अर्थात् भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तथा पराश्रितभावरूप व्यवहार का भाव बन्ध का कारण है।

अब यहाँ कहते हैं कि वे सब अध्यवसान नानाद्रव्यों के स्वभाव हैं ज्ञानी का तो एक ज्ञायकस्वभाव ही है।

देखो, विभाव के परिणाम जीव व कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि कर्मों ने उत्पन्न नहीं किए, परन्तु कर्मों के निमित्त के वश से उत्पन्न हुए हैं, इसकारण वे नानाद्रव्यों के स्वभाव हैं। जबकि ज्ञानी का तो एक ज्ञायकस्वभाव ही है। संयोगवश उत्पन्न हुए संयोगीभाव ज्ञानी के नहीं हैं। ज्ञानी तो मात्र उनको जाननेवाला है, उनका कर्ता नहीं है तथा उनका स्वामी भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानी का तो एक ज्ञायकस्वभाव है।

अहाहा....! ज्ञानी तो एक ज्ञायकस्वभावी ही है, इसलिए ज्ञानी के उन विभावों का निषेध है। यह व्यवहार रत्नत्रय का राग अथवा जो दो द्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ भाव है, उसका ज्ञानी के निषेध है। टीका में भी यह आ चुका है कि ज्ञानी के उसका निषेध है। अर्थात् पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण वह उत्पन्न होता है, परन्तु राग मैं नहीं हूँ, वह मेरी चीज नहीं है – इसप्रकार ज्ञानी के उसका निषेध है। मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ और कर्म के सम्बन्ध से – कर्म के वश से उत्पन्न हुआ यह राग मेरी वस्तु नहीं है—ऐसा ज्ञानी के उसका निषेध वर्तता है।

देखो, २७२वीं गाथा में भी व्यवहारनय का निषेध आया है। वहाँ निश्चय का उपादेयपना कहा व व्यवहार का निषेध किया। जिसने शुद्ध आत्मद्रव्य के लक्ष्य से निश्चय रत्नत्रय प्रगट किया, उसे व्यवहार का निषेध है अर्थात् "व्यवहार रत्नत्रय का राग मेरा है एवं वह मेरा कर्तव्य है" ऐसा ज्ञानी नहीं मानते।

व्यवहारनय ज्ञानी के है नहीं—ऐसी बात नहीं है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, आदि का व्यवहार ज्ञानी के भी होता है; परन्तु दृष्टि में ज्ञानी के इनका निषेध है, क्योंकि ज्ञानी के तो एक ज्ञायकस्वभाव ही अपना है।

अब कहते हैं कि इसकारण ज्ञानी के उन रागादिभावों में प्रीति नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग में या शास्त्र स्वाध्याय के विकल्प में भी ज्ञानी को राग (प्रीति) नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय है ही नहीं—ऐसी बात नहीं है। जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक ज्ञानी को व्यवहार होता तो अवश्य है। मुनिराजों को या जिन्हें अंतरंग में प्रचुर आनंद का संवेदन प्रगट होता है, उन्हें भी प्रमत्तभाव है, अट्ठाईस मुलगुणों का विकल्प है, परन्तु दृष्टि में उन सबका निषेध है। 'उनसे मुझे लाभ है और यह मेरा कर्तव्य है'—ऐसी श्रद्धा उनके नहीं हैं। अपने एक ज्ञायकस्वभाव के सिवाय अन्य कोई भी संयोगीभावों में ज्ञानी के स्वामीपना नहीं होता।

अज्ञानी तो ऐसा मानता है कि व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय होता है और निमित्त से उपादान में कुछ विशेषता या परिवर्तन होता है; परन्तु भाई निमित्त तो परवस्तु है और एक परवस्तु दूसरी परवस्तु में कुछ भी नहीं कर सकता। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय मे क्या कर सकती है? कुछ नहीं कर सकती। यदि करे तो दो द्रव्य एक हो जायेंगे, दो नहीं रहेंगे। इसीप्रकार व्यवहार भी निश्चय में निमित्त है; पर जिसतरह निमित्त कर्त्ता नहीं है, उसकी तो केवल कार्य के समपन्न होते समय उपस्थिति मात्र है, उसीप्रकार व्यवहार भी निश्चय का कर्त्ता नहीं है, निमित्त मात्र है, सहचर मात्र है।

अहाहा....! ज्ञानी को राग के प्रति राग नहीं है; क्योंकि उसे तो अपने निर्मलानन्द स्वरूप भगवान आत्मा की रुचि हुई है न ? अरे भाई! स्वभाव की रुचि होने पर राग की रुचि का तो स्वतः ही अभाव हो जाता है। राग होता ही न हो—ऐसा नहीं समझ लेना। राग होता तो है, पर राग के प्रति रुचि—उत्साह नहीं रहता।

जो परद्रव्य व परभाव संसार में भ्रमण के कारण हैं, उनमें जो प्रीति करता है, वह ज्ञानी कैसा? देखो, परद्रव्य राग का—विभाव का निमित्त है और परभाव स्वयं राग या विभावभाव है। यहाँ इन दोनों को ही संसार परिभ्रमण का कारण कहा है; क्योंकि दोनों के प्रति जो प्रीतिभाव है, वह मिथ्यात्व है। ज्ञानी को परद्रव्य व परभाव दोनों में ही प्रीति नहीं

होती। यदि वह उनमें प्रीति करे तो वह ज्ञानी कैसा? पर में प्रीति करनेवाला तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

श्री पंचास्तिकाय की गाथा १३६ में प्रशस्तराग के स्वरूप का कथन किया है। वहां अप्रशस्तराग का निषेध करनेवाले देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति का जो अनुराग है, उसे प्रशस्तराग कहा है। देव-गुरु-धर्म स्वयं प्रशस्त विषय हैं न? इसलिए उनके प्रति भक्ति व अनुगमन के राग को प्रशस्तराग कहा है; परंतु यह तो अस्थिरता की अपेक्षा से कहा है। ज्ञानी के ऐसा अस्थिरता का राग होता है, पर उसकी अस्थिरता की रुचि या प्रीति नहीं होती। ज्ञानी के प्रशस्तराग की रुचि ही नहीं होती। उसके तो एक ज्ञायकस्वभाव ही आदरणीय है।

अहा! परद्रव्य व परभाव संसार परिभ्रमण के कारण हैं। जो इनके प्रति प्रीति करे, वह ज्ञानी कैसा? भाई! अरहंतादि के प्रति प्रीति करना, तो राग है और राग के प्रति प्रीति का होना मिथ्याभाव है।

भाई! स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के प्रति होनेवाला राग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होने वाले राग से जुदी जाति का होता है। जिसके अन्तरंग में शुद्ध एक ज्ञायकभाव की रुचि जागृत हो गई है, उसके राग की दिशा ही बदल जाती है. उसे देव-गुरु-धर्म के प्रति होनेवाले प्रशस्तराग की ही अधिकता होती है। यदि देव-गुरु-धर्म के प्रति विशेष राग न हो और कुटुम्ब-परिवार आदि अप्रशस्त विषयों के प्रति ही अधिक राग हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

ज्ञानी के देव-गुरु-धर्म के प्रति विशेष राग तो होता है, परंतु उसको उस राग के प्रति राग नहीं होता।

भाई! कुटुम्ब के प्रति जितना व जैसा राग है, उससे विशेष अनुराग देव-गुरु-शास्त्र आदि पूजनीक धर्मायतनों के प्रति न हो तो भी वह मिथ्यादृष्टि है और उनके प्रति एकत्व-ममत्व रूप अनुराग करने लगे

या उसकी भक्ति में लौकिक विषयों की कामना करने लगे तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है।

यहां यही कहते हैं कि परद्रव्य व परभाव अर्थात् विकारी शुभाशुभ भाव संसार में भ्रमण के कारण हैं और जो उनके प्रति प्रीतिवन्त हो, वह ज्ञानी कैसा?

अनुभवप्रकाश ग्रन्थ में आता है कि "जिसतरह सायंकालीन सूर्य की लालिमा अस्तता का कारण है तथा प्रभात की लालिमा सूर्योदय को करती है, उसीप्रकार परमगुरु पंचपरमेष्ठी के आश्रय बिना शरीरादि का राग केवलज्ञान की अस्तता का कारण है और पंचपरमेष्ठी का राग केवलज्ञान के उदय का कारण है। इसीकारण पंचपरमेष्ठी के राग को प्रशस्तराग कहा गया है।

भाई वस्तुतः तो रात्रि के बाद होनेवाली प्रातःकालीन लालिमा भी सूर्योदय का कारण नहीं; क्योंकि रात के कारण सूर्योदय हुआ हो—ऐसी वस्तु व्यवस्था नहीं है। ठीक इसीप्रकार देव-गुरु-शास्त्र के प्रति होनेवाला राग वीतरागता का कारण नहीं है; क्योंकि राग का व्यय होकर वीतरागता व केवलज्ञान प्रकट होता है राग के रहते या उसके कारण केवलज्ञान होता है—ऐसी वस्तु व्यवस्था नहीं है। जिस शुभराग का व्यय करके वीतरागभाव उत्पन्न होता है, उस शुभराग का निमित्तपना होने से उसे उपचार से वीतरागता का कारण कहा जाता है। परंतु वस्तुतः वहाँ राग के कारण वीतरागता व केवलज्ञान होता हो—ऐसा नहीं है।

वास्तव में ज्ञानी के तो राग का निषेध ही है। तथा राग का परिपूर्ण निषेध करके ही वे मुक्ति को प्राप्त होते है। यही यथार्थ मोक्षमार्ग है।

अहा! जो संसार परिभ्रमण का कारण हैं, उस राग के प्रति ज्ञानी को प्रीति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती और जिसे राग में प्रीति हो, वह ज्ञानी कैसा?

कलश - १४८

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे-स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

श्लोकार्थ:- (इह अकषायितवस्त्रे) जैसे लोध्र और फिटकरी इत्यादि से जो कसायला नहीं किया गया हो—ऐसे वस्त्र में (रंगयुक्तिः) रंग का संयोग, (अस्वीकृता) वस्त्र के द्वारा अंगीकार न किया जाने से, (बहिः एव हि लुठति) ऊपर ही लौटता है (रह जाता है) वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता, (ज्ञानिनः रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति) इसीप्रकार ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है, इसलिये उसे कर्म परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ:- जैसे लोध्र और फिटकरी इत्यादि के लगाये विना वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता, उसीप्रकार रागभाव के बिना ज्ञानी के कर्मोदय का भोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता॥१४८॥

कलश १४८ पर प्रवचन

जिसतरह अकषायित वस्त्र रंग नहीं पकड़ता, उसीतरह राग के रस से रहित ज्ञानी के कर्मवन्ध नहीं होता अर्थात् ज्ञानी राग को अपना स्वरूपभूत नहीं मानता, स्वयं रागी नहीं होता।

ज्ञानी रागरस से रिक्त है। ज्ञानी को चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के प्रेम के कारण राग का प्रेम छूट गया है। राग नहीं छूटा, पर का राग का रस फीका पड़ गया है, राग के प्रति राग नहीं रहा, इस कारण उसे राग की क्रिया में एकत्व-ममत्व नहीं रहा।

अहाहा....! अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के आनन्दरस की रुचि में ज्ञानी के बन्धभाव स्वरूप राग का रस उड़ गया है। इसकारण उनके पुण्य-पापरूप कर्म परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होते। ज्ञानी पुण्य-पाप की क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानता।

कलशटीका में क्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "क्रिया अर्थात् विषय सामग्री की भोगरूप क्रिया" यह क्रिया सम्यग्दृष्टि जीव को ममतारूप से स्वीकृत नहीं होती।

यद्यपि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि क्रिया ज्ञानी के होती है; परंतु उसमें उसे अपनापन नहीं है। इसकारण वह परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होती। जबतक पूर्ण वीतराग न हो जाय, तबतक ज्ञानी के यथासंभव रागभाव आता है; परन्तु वह उसका हेयरूप आचरण है, रुचि व उत्साहपूर्वक नहीं। अहाहा....! ज्ञानी को क्रिया में एकत्व नहीं।

यह बात शुभराग के रसिकों को अटपटी लगती है, उनके गले नहीं उतरती; पर क्या करें, बात तो यही यथार्थ है। अन्ततः तो यही स्वीकार करना होगा, धर्म करने और सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानी के रागरूप रस नहीं है—इसका अर्थ यह नहीं लेना कि उसके राग ही नहीं है; राग तो है, पर उसमें रुचि नहीं है। यदि राग ही न रहा हो, तब तो उसे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ परमात्मा बन जाना चाहिए। पर ऐसा तो हुआ नहीं। अतः राग में रस नहीं का अर्थ उसमें एकत्व, ममत्व या हितबुद्धि का न होना ही है।

देखो, छटवे गुणस्थान में मुनिराज के प्रचुर-आनन्द का वेदन होता है, तो भी पंचमहाव्रतादि के विकल्प तो होते है न? सर्वथा राग है ही नहीं—यह तो नहीं कह सकते। पर राग का राग नहीं है; राग भला है, हितकारी है—ऐसा नहीं है। तथा राग का आश्रय व आलम्बन नहीं है। अहा! ज्ञानी का आलम्बन तो एक ज्ञायकस्वभाव है। ज्ञानी के द्रव्यदृष्टि मुख्य हैं।

ज्ञानी के केवल ज्ञायकभाव का ही रस है, इसकारण उसे राग तो है पर राग का रस किंचित् भी नहीं है। मन्दिर बनवाना—प्रतिष्ठा करवाना, भगवान की भक्ति-पूजा आदि का राग उसे होता है; जबतक पूर्ण वीतरागता न हो जाये, तबतक रागभाव भी है। यद्यपि स्वाश्रय से आंशिक वीतरागता का अंश भी प्रगट हो गया है, परंतु पर के आश्रय में किंचित् रागभाव भी वर्तता है। ज्ञानी के दो धारायें चलती हैं; एक ज्ञानधारा और दूसरी कर्मधारा। ये दोनों साथ-साथ चलती हैं।

"यावत पाकमुपैति" आदि कलश में यही बात कही है कि कर्म की क्रिया जबतक पूर्णरूप से अभाव को प्राप्त नहीं होती, तबतक कर्म की क्रिया—रागादि कर्म ज्ञानी के होते हैं; परंतु रागादि में ज्ञानी के अनुराग या प्रेम नहीं होता। वह तो उसे हेयरूप जानता है। इसकारण राग की क्रिया उसको परिग्रहरूप नहीं बनती। वैसे तो रागादि अभ्यन्तर परिग्रह है और धन-धान्य, रुपया-पैसा बाह्य परिग्रह है; परंतु "यह रागादि मेरे हैं" ऐसा भाव ज्ञानी के नहीं होता। इसीकारण तो रागादि क्रियाएं परिग्रह को प्राप्त नहीं होती। अहो! दिगम्बर संतों के सिवाय तत्त्व की ऐसी यथार्थ बात अन्यत्र कहीं नहीं है। यहाँ ज्ञानी का अर्थ अधिक क्षयोपशम ज्ञानवाला नहीं है। बल्कि आत्मानुभवी को ज्ञानी कहा गया है।

ज्ञानी के व्यवहार होता है, इसकारण यदि ऐसा मानें कि व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति होती है तो ऐसा मानना भी यथार्थ नहीं है। जिसे निश्चय की प्राप्ति होती है, उसके संयोगरूप बाह्य निमित्तों को व्यवहार कहा जाता है। इसी से यह स्पष्ट है कि व्यवहार से निश्चय नहीं होता। ३७२वीं गाथा में आचार्य अमृतचंद ने कहा है कि हमें तो घड़ा मिट्टी से बनता दिखाई देता है, कुम्हार के द्वारा बनता दिखाई नहीं देता; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की गुण-पर्यायों को उत्पन्न करे—ऐसी उसमें योग्यता ही नहीं है।

भाई! ज्ञानी के अपने शुद्ध, चिदानन्द फलस्वरूप आत्मा में ही अपनापन होता है। जिसतरह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में ममपना है, उसीतरह उसे राग में ममपना नहीं है।

जिसतरह मिष्ठान्न खाते-खाते यदि मुंह मे कंकड़ आ जाता है तो हम उसे तुरंत निकालकर फैंक देते हैं और उसे आनन्द में बाधक मानते हैं, ठीक इसीतरह ज्ञानी के निराकुल आनंद का उपभोग करते हुए बीच

में राग का कंकड़ आ जाता है तो वह उसे हेय दुःखद मानकर तुरंत उससे भेदभाव कर लेता है, बाधक जानकर त्याग देता है। जिसे आत्मा के आनन्द में रस आता है, उसे राग में कैसे आनंद आ सकता है, नहीं आ सकता।

कलश १४८ के भावार्थ पर प्रवचन

ज्ञानी के राग तो है, पर राग की रुचि नहीं है। इसकारण ज्ञानी के कर्मोदयजनित भाव बन्ध के कारण नहीं बनते। भोग की पर्याय आत्मा में उत्पन्न होती है, पर वह ज्ञानी को जहर के समान लगती है, अहा! अमृत के सागर भगवान आत्मा के निराकुल आनन्दरूप अमृत का स्वाद जिसे प्राप्त हो गया है, उसे राग नहीं भाता।

प्रश्नः- ज्ञानी कुशील का सेवन करे, तो भी क्या उसे पाप नहीं होता?

उत्तरः- अरे भाई! यह तुम क्या कहते हो? ज्ञानी की दृष्टि में पाप तो पाप है ही, वह तो पुण्य को भी पाप की तरह हेय मानता है। अतः ज्ञानी द्वारा पापभाव का सेवन कैसे हो सकता है? यहाँ तो यह कहा है कि यदि न चाहते हुए भी मजबूरी से कर्मोदय से प्राप्त भोगों को अरुचिपूर्वक वह भोगता भी दिखाई दे, तो ऐसे भोगों के भोगने से उसे तन्मयतापूर्वक भोगनेवाले अज्ञानी जैसा विशेष कर्मवन्धन नहीं होता।

अरे जिसे स्वस्त्री का भोग पाप जैसा लगता हो, क्या वह परस्त्री के भोगरूप महापाप में प्रवर्तन करेगा? कदापि नहीं करेगा। यहाँ तो केवल यह कहना चाहते हैं कि ज्ञानी को राग में कतई रुचि नहीं होती। उसे भोग के परिणाम में रस नहीं है, इसकारण वह परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता। कलश १३४ में भी आया था न? कि ज्ञानी भोगों का सेवक होते हुए भी असेवक है। बस, यही बात यहाँ कही गई है। राग के व भोगो के परिणाम में ज्ञानी को किंचित् भी रस नहीं है, इसकारण उसे पुण्य-पाप का भी परिग्रह नहीं है।

कलश - १४९

(स्वागता)

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥१४९॥

अब पुन कहते हैं किः-

श्लोकार्थः- (यतः) क्योंकि (ज्ञानवान्) ज्ञानी (स्वरसतः अपि) निजरस से ही (सर्वरागरसवर्जनशीलः) सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला (स्यात्) है, (ततः) इसलिये (एषः) वह (कर्ममध्यपतितः अपि) कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी (सकलकर्मभिः) सर्वकर्मों से (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता।

कलश १४९ पर प्रवचन

ज्ञानी अतीन्द्रिय आनन्दरस से, चैतन्यरस से, निजरस से ओत-प्रोत होने से रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है। जिसके पास चैतन्यरस या निजरस है, उसके राग का रस निजरसरूप से स्वीकृत कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। ज्ञानी का निज चैतन्यरस रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है।

यहाँ यह अस्ति-नास्ति से कथन किया है कि ज्ञानी के निजरस— चैतन्यरसपने है और रागरसपने नहीं है। रागरस की चैतन्यरस में नास्ति है। जिसको एकबार निजरस अर्थात् वीतरागरसरूप चिदानन्द का स्वाद आ गया, फिर उसे रागरस में आनन्द आता ही नहीं है।

अरे भाई! अनादिकाल से इस अज्ञानी जीव को निज चैतन्यरस का भान न होने से एकान्ततः राग का ही स्वाद आया है। अतः वह द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु होकर अनन्तवार नवग्रैवेयक तक गया, पर वहाँ

भी उसे एकान्ततः राग का ही स्वाद मिला, निजरस का आस्वाद नहीं मिला। उसने शुभरागरूप पंच महाव्रतादि की जो क्रियायें की, वे सब भी रागरस के अधीन ही थी। तथा वह रागरस की रुचि में निजरस को भूल ही गया था।

अहाहा....! ज्ञानी निजरस के स्वाद के आगे रागरस को भूल जाता है, जबकि अज्ञानी रागरस की रुचि के कारण दया, दान, व्रत आदि राग में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि वह चैतन्यराग को भूल जाता है। अरे भाई! अनंतकाल से तू चैतन्यरस से विरक्त होकर रागरस में रक्त रहा है, परंतु वह उसका अज्ञान है तथा उसका फल चारगतिरूप संसार है। जिसको शुभभाव में रस है, वह अज्ञानी है। यहाँ "रस" का अर्थ है—एक विषय में एकाग्र होकर दूसरे की चिन्ता छोड़ देना।

भगवान! तू रागरस में लीन होकर निजानन्द रस को भूल गया है। हे आत्मन्! स्त्री, देह, लक्ष्मी, मकान तथा मान-प्रतिष्ठा का रस तो किसी को होता नहीं, हो भी नहीं सकता; क्योंकि ये तो पर हैं—जड़ हैं। परन्तु उसकी ओर लक्ष्य करने से जो राग उत्पन्न होता है, उस राग के रस में लीन होकर तू अनादि से अज्ञानी हो रहा है।

अज्ञानी ने अनादि से व्रत पाले, भक्ति-पूजा की, तथापि वह राग के रस में ही पड़ा हुआ है। उस अज्ञानी से कहते हैं कि हे भाई! धर्मीजीव तो निजरस के कारण सर्व रागरस से विरक्त हो जाते हैं। उनको निजरस—चैतन्यरस—आनन्दरस का जो स्वाद आता है, वही धर्म है।

प्रश्नः- क्या व्रत-उपवास आदि तप करना धर्म नहीं है?

उत्तरः- भोजन न लेने को लोग उपवास कहते हैं; पर भाई! यह तो जड़ की क्रिया है और भोजन त्यागने का जो शुभ विकल्प है, वह राग है, उसमें भी आत्मा या आत्मा का धर्म नहीं है। अतः यह तप नहीं है और इससे निर्जरा नहीं होती। यहाँ तो यह कहना है कि अतीन्द्रिय

आनन्द के नाथ आत्मप्रभु के समीप जाने पर जो आनन्द का स्वाद आता है, वह उपवास है। उपवास तो आत्मा के समीप रहने—सन्निकट रहने का नाम है और इसी का नाम धर्म है।

यहाँ कहते हैं कि "ज्ञानी" के निजरस से ही सर्व रागरस का त्याग होता है। चाहे कैसा भी शुभराग क्यों न हो? ज्ञानी के उसके रस से विरक्ति है। अहाहा....! शुद्ध चैतन्यरस में अनुरक्त ज्ञानी के सर्व रागरस से विरक्ति है। अहाहा....! शुद्ध चैतन्यरस में अनुरक्त ज्ञानी सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी कर्मों के मध्य पड़ा होने पर भी सर्वकर्मों से निर्लिप्त रहता है। तथा कर्मजनितसामग्री—स्त्री, पुत्र,. कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी आदि के मध्य रहता है एवं अन्दर में रागादि पुण्य पाप होते हैं, उन सब क्रियायों को करता हुआ भी वह कर्मों से लिप्त नहीं होता।

अहाहा....! ज्ञानी की दिशा ही बदल गई है। पहले अज्ञानदशा में रागरस के पक्ष में था और अब ज्ञान होते ही शुद्ध चैतन्यरस का स्वाद आने पर चैतन्य के पक्ष में आ गया है, अब राग का रस रहा ही नहीं। भले वह ९६ हजार स्त्रियों के समूह में रहे, तो भी वह उनके बन्धन में नहीं बंधता।

प्रभु जिनको अन्तर में चैतन्य की प्रभुता का रस आया, उनके रागरस छूट जाता है। इसकारण उन समकिती जीवों को कर्म की सामग्री के बीच में रहते हुए भी—रागादि की क्रिया के मध्य में रहते हुए भी कर्मबंध नहीं होता।

समयसार गाथा २१८-२१९

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं॥२१९॥

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम्॥२१८॥
अज्ञानी पुन रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहम्॥२१९॥

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते, तदलेपस्वभावत्वात्; तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न

अब इसी अर्थ का विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं :—

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दममध्य में॥२१८॥
परद्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्य में॥२१९॥

गाथार्थः-(ज्ञानी) ज्ञानी (सर्वद्रव्येषु) जो कि सर्वद्रव्यों के प्रति (रागप्रहायकः) राग को छोड़नेवाला है, वह (कर्ममध्यगतः) कर्मों के मध्य में रहा हुआ हो (तु) तो भी (रजसा) कर्मरूपी रज से (नो लिप्यते) लिप्त नहीं होता, (यथा) जैसे (कनकम्) सोना (कर्दममध्ये) कीचड़ के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता। (पुनः) और (अज्ञानी) अज्ञानी (सर्वद्रव्येषु) जो कि सर्वद्रव्यों के प्रति (रक्तः) रागी है वह (कर्ममध्यगतः) कर्मों के मध्य रहा हुआ (कर्मरजसा) कर्मरज से (लिप्यते तु) लिप्त होता है, (यथा) जैसे (लोहम्) लोहा (कर्दममध्ये) कीचड़ के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है)।

लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात्। यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते, तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात्।

टीका:- जैसे वास्तव में सोना कीचड़ के बीच पड़ा हो, तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता (अर्थात् उसे जंग नहीं लगती); क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहना है। इसीप्रकार वास्तव में ज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ हो, तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसके त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी अलिप्त स्वभावी है। जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है) क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है, इसीप्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ कर्मों से लिप्त हो जाता है; क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होने से अज्ञानी कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है।

भावार्थ:- जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने को जंग नहीं लगती और लोहे को लग जाती है, इसीप्रकार कर्मों के मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मों से नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता है। यह ज्ञान-अज्ञान की महिमा है।

गाथा २१८-२१९ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ स्वर्ण व लोह के दृष्टान्त से निर्जरा को समझाते हैं। जिसप्रकार स्वर्ण कितने ही कीचड़ में कितने ही काल तक पड़ा रहे तो भी उसमें जंग नहीं लगती, उसीप्रकार ज्ञानी कर्म के बीच में रहता हुआ भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह सर्व परद्रव्यों के प्रति के राग के त्यागरूप स्वभाववाला है। स्वर्ण में जंग क्यों नहीं लगती? क्योंकि उसका स्वभाव ही उससे अलिप्त रहने का है। इसीप्रकार ज्ञानी क्यों नहीं बंधता? क्योंकि उसका भी स्वभाव कर्मों से अलिप्त रहने का है।

भाई! यह बहुत सूक्ष्म बात है, इसको समझने का अवसर बड़े सौभाग्य से मिलता है। बापू! इसे समझे बिना संसार में भटकते हुए

अनंतकाल बीत गया। ऐकेन्द्रिय आदि की एक-एक योनि में अनन्त अनन्त अवतार लिए उनके जन्म-मरण के दुःख की कथा कहाँ तक कहें? बापू ये शकरकंद, लहसण, आलू, मूली आदि जमीकंद हैं न? उनके एक राई बराबर टुकड़े में असंख्य औदारिक देह हैं और एक-एक देह में अनन्त निगोदिया जीव हैं तथा ऐसे निगोद के भी अनन्तभव अज्ञानदशा में हम सब ने धारण किए हैं, जहाँ मन नहीं था, वाणी नहीं थी, मात्र देह का संयोग था वहां सब भोग सामग्री का तो प्रश्न ही कहाँ से उठता है? वहाँ एक श्वांस में अठारह बार जन्म-मरण की असह्यवेदना सही है।

भाई! एकबार कान खोलकर सुनो तो सही! अब इस समय हम सब वहाँ से निकलकर इस मनुष्य भव में आये हैं और सौभाग्य से सब अनुकूल बनाव बन गया है, सर्वप्रकार अवसर आ गया है। अतः चेतो! और सावधान होकर सुनो!यदि फिर भी दाव चूक गये तो .....।

ज्ञानी जब भगवान की वाणी का कारण (निमित्त) पाकर स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ जागृत करके अन्दर में आनन्दरस में डुबकी लगाता है तो उसका पर से लक्ष्य छूट जाता है, अहाहा! परम चैतन्य रस का—आननंदरस अद्भुत अनुभव होने पर ज्ञानी को राग व राग के फलस्वरूप संयोग का लक्ष्य सहज ही छूट जाता है। जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा कंचन कीचड़ से लिप्त नहीं है, उसीप्रकार ज्ञानी कर्मों के मध्य रहता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

अहाहा....! धर्मी इन्द्र सरीखे भोगों के मध्य रहता हुआ और चक्रवर्ती जैसे वैभव के बीच रहते हुए भी तथा असंख्य प्रकार की शुभ राग की क्रियाओं को करते हुए भी कर्म से लिप्त नहीं होता, कर्मों से नहीं बंधता।

भगवान आत्मा चिदानन्दघन सदा निर्लेपस्वभावी है। धर्मी की दृष्टि निरन्तर निर्लेपस्वभावी आत्मा पर है, उसकी दृष्टि राग पर नहीं है। इसकारण वह अनेक राग की क्रियाओं के बीच रहता हुआ कर्म से लिप्त नहीं होता। अहाहा! जिसे अन्तर में स्वानुभव प्रगट हुआ है वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ज्ञानी है—धर्मी है तथा वह सर्वकर्मों के बीच रहता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता। शुभ क्रियाकाण्ड व कर्म की

सामग्री के बीच रहता हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता। शुभ क्रियाकाण्ड व कर्म की सामग्री के बीच रहता हो तो कर्मों से नहीं बंधता। अहाहा! जिसके अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का रस प्रगट हुआ है व सर्वराग का रस उड़ गया है, वह कर्मों से बंधन को प्राप्त नहीं होता। जो अज्ञानी जीव इस मूल मार्ग को तो जानते नहीं हैं और बाह्य क्रियाकाण्ड में ही धर्म मान बैठे हैं, उन पर करुणा करके आचार्य कहते हैं कि भाई! यदि तत्त्व हाथ आये बिना इसीतरह क्रियाकाण्ड में ही जीवनलीला समाप्त हो गई तो अनन्तकाल तक संसार में जन्म-मरण का दुःख भोगना पड़ेगा। बापू स्वरूपलीनता करने के सिवाय सच्चे सुख का (मोक्ष का) अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

जिसप्रकार दूधपाक का स्वाद चख लेने पर ज्वार की रोटी का स्वाद फीका लगने लगता है, उसीप्रकार अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ जाने पर राग का रस उड़ जाता है, इसकारण वह विषय-कषायरूप राग में लिप्त नहीं होता। देखो, आत्मवस्तु भी राग के अभाव स्वभावपने है और ज्ञानी के भी राग का अभाव स्वभावपना है। अहो! कैसी गजब टीका है। प्रभु! एकबार समझने की कोशिश करके तो देख! यह मनुष्यपना तो देखते ही देखते चला जायगा, फिर पीछे पछताने के सिवा कुछ हाथ नहीं आवेगा। भाई! बाहर में तुझे कुछ भी शरण नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान आत्मा ही एकमात्र तुझे शरणभूत है, अतः अन्य सब अवलम्बन तोड़कर उसी की शरण में आ जा।

ये सेठिया, राजा-महाराजा व देवादि सभी दुःखी हैं; क्योंकि वे सब बाहरी वैभव की चमक-दमक में ही उलझ गये हैं, उसी से प्रभावित हो गये हैं, उसी में अटक गये हैं। तथा जो अज्ञानी बाह्य क्रियाकाण्ड रूप व्रतादि धारण कर रहे हैं, वे भी सब दुःखी ही हैं, क्योंकि वे भी शुभराग में अटक गये हैं। वे सब कर्मजनित सामग्री व शुभराग को अपना मानते हैं, इसकारण वे राग के बीच में—बाह्य विषय सामग्री में अटकने से बंधते हैं। धर्मी इन सबसे दूर रहने से बन्धनबद्ध नहीं होता। अहाहा! निजानंद-रस के स्वभाववाला धर्मी राग के त्यागस्वभावरूप स्वभाववाला है—ऐसा कहकर यहाँ अस्ति-नास्ति-दोनों प्रकार से कथन किया गया है।

यहाँ यह कह रहे हैं कि भगवान आत्मा व्यवहार रत्नत्रय के राग के भी अभावस्वरूप है। अर्थात् आत्मा व्यवहार रत्नत्रय के राग के भी अभावस्वरूप है। कहते हैं कि जिसका स्वभाव ही व्यवहाररत्नत्रय के अभाव स्वभावरूप है, उसे व्यवहार रत्नत्रय से लाभ कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। जब ऐसा वस्तुस्वरूप है, तो फिर तू यह पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप अज्ञान के रागभाव को अपना कर—अपना-अपना मानकर इतनी बड़ी भूल कैसे कर सकता है? अरे भाई! व्यवहार से लाभ होता है—ऐसी उल्टी मान्यता तुझे हानिकारक है। और तो और भगवान आत्मा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग से, पाँच महाव्रत के राग से तथा शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने, सुनने के राग से अभावस्वरूप है। देखो न! क्या कहते हैं कि सर्व परद्रव्य के प्रति करने में आता हुआ जो राग है, उसके त्यागरूप स्वभाववाला होने से ज्ञानी कर्मों से लिप्त नहीं होता, बंधता नहीं है। अस्थिरता का किंचित् राग, जो कि ज्ञानी के होता है, तदनुसार उसे थोड़ा बंध भी है, परन्तु उसे यहाँ गिना नहीं है। यहाँ तो ज्ञानी की दृष्टि राग पर नहीं है, दृष्टि एक शुद्ध ज्ञायकभाव पर है, इसलिए कहा है कि कर्म के बीच होते हुए भी ज्ञानी कर्म से लिप्त नहीं होता, कर्म से बंधता नहीं है।

भाई! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है और जैसा है वैसा ही ज्ञानी कहते हैं। बाह्य वस्तुयें तो जड़—अचेतन हैं और अन्दर में उत्पन्न हुआ कर्तृत्व-भोक्तृत्व का राग आत्मा का विकार है, वह विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है। भगवान आत्मा का तो राग के त्याग रूप ज्ञानानन्द-स्वभाव है और उस स्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह ज्ञानी भी राग के अभाव स्वभाव से परिणमता है। वह राग के रस से रहितपने परिणमता है। बस, इसीप्रकार के परिणमन का नाम धर्म है। परन्तु इन सेठियों को पैसा कमाने से यह अमूल्य-अदभूत बात समझने की फुरसत ही कहाँ है?

कुछ लोग समझते हैं कि खूब कमाकर रख लें, बस फिर बैफिक्री से सब निर्वृत्त होकर धर्म करेंगे, पर भाई! यह भ्रम है। खूब पैसा कमा लेने से निर्वृत्ति नहीं होती, बल्कि पैसा मेरी वस्तु नहीं है, पैसे से कुछ भी

लाभ नहीं है, ऐसा समझकर पैसे के प्रति राग कम होने से राग से निर्वृत्ति होती है।

यहाँ तो यह सिद्धान्त है कि परद्रव्य के प्रति करने में आते हुए राग के त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी राग को ग्रहण नहीं करता, किन्तु राग को अपने ज्ञान का ज्ञेय मात्र बनाकर परज्ञेय रूप से केवल जानता ही है। ज्ञानी अपने में उत्पन्न हुए राग में लिप्त होकर राग को नहीं जानते हैं, किन्तु अपने में रहकर राग को छुए बिना ही उसको मात्र जानते हैं। पर अधिकांश दिगम्बर जैन भी इस बात को नहीं समझते। अतः विचारे केवल दया, दान, व्रत, उपवास आदि में ही धर्म मानकर संतुष्ट हो जाते हैं; परन्तु भाई! यह सब तो राग की क्रियायें हैं। यह वीतराग का धर्म नहीं है। वीतरागी धर्म तो राग से सर्वथा भिन्न है।

प्रश्नः- व्यवहारधर्म को राग कहने से लोग व्यवहार की उपेक्षा करेंगे, क्या इसतरह व्यवहार धर्म का लोप नहीं हो जाएगा?

उत्तरः- अरे भाई! व्यवहार तो जहाँ जिस गुणस्थान की भूमिका में जैसा होता है, वैसा ही रहेगा। रागरूप व्यवहारधर्म से अन्तर में वीतरागतारूप निश्चयधर्म प्रगट नहीं होता। ज्ञानी तो स्वभावसन्मुख होकर राग के अभाव स्वभाव से एक ज्ञायकभावपने परिणमता है। वह राग की रचना कैसे कर सकता है? नहीं करता। ज्ञानी के जो रागरूप व्यवहार होता है, वह तो उसे केवल ज्ञाता-दृष्टा भाव से जानता है, कुछ करता नहीं है।

अब कहते हैं कि जिसप्रकार लोहा कीचड़ में पड़ा रहे तो उसमें जंग लग जाती है, क्योंकि वह कीचड़ के कारण जंग से लिप्त होने के स्वभाववाला है, उसीप्रकार अज्ञानी कर्मों के बीच रहकर कर्मों से लिप्त होता है, क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति होनेवाला राग उसके ग्रहणरूप स्वभाववाला होने से अज्ञानी कर्मों से लिप्त होने के स्वभाववाला है।

देखो, पहले सोने का दृष्टान्त दिया था और अब यहाँ लोहे का दृष्टान्त दिया है। यहाँ सोने के स्थान पर ज्ञानी एवं लोहे के स्थान पर अज्ञानी को रखा है।

यह शुभराग साधन है, शरीर साधन है, वाणी साधन है, परद्रव्य साधन हैं—ऐसा पर से एकत्व माननेवाला वास्तव में अज्ञानी है और वह कर्म के बीच में रहता हुआ कर्म से लिप्त होता है। यहाँ कर्म के बीच रहता हुआ का अर्थ है व्रत, तप, भक्ति आदि क्रियायें करते हुए अज्ञानी कर्मों से लिप्त होता है—बंधता है।

वस्तुतः अज्ञानी रागादि क्रियाओं व कर्म के उदय से मिली सामग्री के मध्य में रहता हुआ कर्मों से बंधता है, क्योंकि उसकी दृष्टि राग पर है, पर के ऊपर है। अपना अस्तित्व तो शुद्ध एक ज्ञानानन्द-स्वभाव से है, परन्तु अज्ञानी को ऐसी निजस्वरूप की दृष्टि प्राप्त नहीं है। इसकारण वह अन्य दया-दान, व्रतादि के राग में व पर में अपना अस्तित्व मानता है। अहाहा! अज्ञानी आत्मा को आनन्दकन्द स्वभावी मानने के बदले में —ऐसा मानता है कि "मैं राग हूँ, मैं धनादिमय हूँ।" वह मानता है कि पैसे से तो दुनियाँ में बड़े-बडे काम होते हैं, परन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है—अज्ञान है। भाई! पैसा तो धूल-मिट्टी है, इससे आत्मा में कुछ नहीं होता। अरे जब शुभराग जो कि आत्मा की ही अवस्था है, उससे भी आत्मा को धर्म का कुछ लाभ नहीं होता, तो परद्रव्य से तो लाभ होने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि राग में व परद्रव्य में आत्मा नहीं है और आत्मा में राग व परद्रव्य नहीं है।

देखो, महाविदेह क्षेत्र में सदैव परमात्मा विराजते हैं, वहाँ कभी भी भगवान तीर्थंकर देव का विरह नहीं होता। तथा सदैव समोशरण में उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, वहाँ बैठा-बैठा भी अज्ञानी जीव मिथ्यात्व से लिप्त होता है, क्योंकि अज्ञानी सर्व परद्रव्यों के प्रति करने में आता हुआ राग, उसके ग्रहणरूप स्वभाववाला है। देखो, जिसका स्वभाव शुभराग के ग्रहणरूप है, वह अज्ञानी है। अज्ञानी का राग को ग्रहणरूप स्वभाव है और ज्ञानी के राग का त्यागरूप स्वभाव है। दोनों में बड़ा भारी अन्तर है।

अज्ञानी का राग को ग्रहण करनेरूप स्वभाव है, शुद्ध चैतन्य को ग्रहण करने का स्वभाव उसका नहीं है। अज्ञानी को राग की पकड़ है, इसकारण वह कर्म के बीच रहता हुआ कर्म से लिप्त नहीं होता। ज्ञानी

स्वभाव को पकड़ता है व राग को छोड़ देता है, जबकि अज्ञानी स्वभाव को छोड़ देता है व राग को पकड़ता है, अतः वह राग से बंधता है।

गाथा २१८-२१९ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी शुभाशुभ परिणाम के मध्य में रहता है तो भी उसे कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि शुभाशुभ के काल में भी उसकी दृष्टि शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर है। तथा अज्ञानी कर्म से बंधता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शुभाशुभ भावों पर है। शुभाशुभ परिणाम ही मैं हूँ—ऐसी अज्ञानी की परिणाम ऊपर दृष्टि है, इसकारण वह बंधता है। ऐसी ज्ञान व अज्ञान की महिमा है।

प्रश्नः- ज्ञान की महिमा तो ठीक पर अज्ञान की महिमा कैसी?

उत्तरः- भाई! राग, जो कि अपना स्वभाव नहीं है, उसे अपना स्वभाव मानना—इसे अज्ञान की महिमा न कहें तो और क्या कहें? अनुभवप्रकाश में पण्डित दीपचंदजी ने कहा है कि "तेरी शुद्धता भी बड़ी, तेरी अशुद्धता भी बड़ी। प्रभु तेरी अशुद्धता भी अपार है। यह तो पर्याय की बात है। अन्तर-आत्मा में शुद्धता की तो बात ही क्या है? शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा शुद्ध-शुद्ध-शुद्ध एक चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर है। अहाहा! इसकी क्या बात करें! तथा इस चैतन्यचमत्कारमय भगवान आत्मा की दृष्टि होने पर जो निर्मल परिणति प्रगट होती है, उसकी भी क्या बात! यह निर्मल परिणति अपने में अशुद्धता को मिलने नहीं देती—ऐसी ज्ञानी की कोई अचिंत्य महिमा है।

यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभ परिणाम होते हुए भी समकिती को शुभाशुभ भावों पर दृष्टि नहीं होने से तथा शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि होने से बन्धन नहीं होता। तथा शुभाशुभ भाव पर ही जिसकी दृष्टि है और चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को जिसने कभी भाया नहीं है, उस अज्ञानी को बंध होता है'

कलश-१५०

(शार्दूलविक्रीडित)

याद्दक् ताद्दगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावों हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव॥१५०॥

अब इस अर्थ का और आगामी कथन का सूचक कलशरूप काव्य कहते है :—

श्लोकार्थः-(इह) इस लोक में (यस्य यादृक् यः हि स्वभावः तादृक् तस्य वशतः अस्ति) जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, उसका वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही (अपने आधीन ही) होता है। (एषः) ऐसा वस्तु का स्वभाव वह (परैः) परवस्तुओं के द्वारा (कथंचन अपि हि) किसी भी प्रकार से (अन्यादृशः) अन्य जैसा (कर्तुम् शक्यते) नहीं किया जा सकता। (हि) इसलिये (सन्ततं ज्ञानं भवत्) जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होता है वह (कदाचन अपि अज्ञानं न भवेत्) कभी भी अज्ञान नहीं होता; (ज्ञानिन्) इसलिये हे ज्ञानी! (भुंक्ष्व) तू (कर्मोदयजनित) उपभोग को भोग, (इह) जगत में (पर-अपराध-जनितः बन्धः तव नास्ति) पर के अपराध से उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है अर्थात् पर के अपराध से तुझे बन्ध नहीं होता।

भावार्थः- वस्तु का स्वभाव वस्तु के अपने आधीन ही है। इसलिये जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है, उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता। ऐसा होने से यहां ज्ञानी से कहा है कि तुझे पर के अपराध से बन्ध नहीं होता, इसलिये तू उपभोग को भोग। तू ऐसी शंका मतकर कि उपभोग के भोगने से मुझे बन्ध होगा। यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्य से अपना बुरा होता है' ऐसी मान्यता का प्रसंग आ जायेगा। इसप्रकार यहाँ परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव

की शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिये कि भोग भोगने की प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है—यह आगे कहेंगे ॥१५०॥

कलश १५० पर प्रवचन

यहाँ इस कलश में कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव स्वयं वस्तु के आधीन ही है। भगवान आत्मा भी एक वस्तु है, अतः वह भी शुद्ध-बुद्ध परमपवित्र ज्ञानानन्द स्वभावी है और उसका परिणमन भी स्वाधीन ही है। अहाहा! भगवान आत्मा का जो शुद्ध एक ज्ञायकस्वभाव—चैतन्यभाव है, वह सहज स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। पर्याय में जो अपवित्रता (अशुद्धता) होती है, वह पराधीन या निमित्त के आधीन होती है, परन्तु शुद्ध एक ज्ञायकस्वभाव तो सहज स्वाधीन ही होता है। वह पर-वस्तुओं के कारण किसी भी प्रकार से अन्यरूप नहीं होता। कोई भी परद्रव्य उसे अपनेरूप या विकाररूप नहीं परिणमा सकता।

यहाँ यह सिद्धान्त प्रसिद्ध कर रहे हैं कि धर्मी की आत्मवस्तु का स्वभाव जो शुद्ध व पवित्र है, वह पर के कारण परिवर्तित नहीं होता। भले ही वह पर के बीच में रहे, तो भी परसामग्री से प्रभावित नहीं होता, कोई भी परद्रव्य उसे पररूप नहीं परिणमा सकता। परपदार्थ या कर्मोदय आदि के कारण भी आत्मा अपराधी नहीं होता।

इसी बात को विशेष समझाते हैं—जो निरन्तर ज्ञानरूप से परिणमित होता है, वह कभी अज्ञानरूप नहीं होता।

अब कहते हैं कि जब परद्रव्य से तू सदैव अप्रभावी ही है तो परद्रव्य के बीच रहने से क्यों डरता है? हे ज्ञानी! तू कर्मोदय जनित उपभोग को भोग! ऐसा कहकर आचार्य यहाँ भोग भोगने की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं और न स्वच्छन्द होने की बात कर रहे हैं। यहाँ तो वे ऐसा कहना चाहते हैं कि भगवान! तू शुद्ध चैतन्य आत्मा है न? अतः तुझे परद्रव्य की परिणति से कुछ हानि नहीं होती। जड़ के उपभोग से, जड़ की परिणति से तुझमें कुछ भी नुकसान नहीं है। यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब आदि की ओर लक्ष्य होने से तेरी कोई

हानि नहीं है। इनके कारण तू कभी चेतन से जड़ नहीं हो सकता। जिसप्रकार सोना कीचड़ में पड़ा होने से कीचड़ नहीं हो जाता, उसमें जंग नहीं लगती, उसमें कीचड़ का प्रवेश भी नहीं होता, उसीप्रकार भगवान आत्मा में पर का प्रवेश नहीं होता, आत्मा पररूप नहीं होता। पर से प्रभावित भी नहीं होता और पर के कारण विकारी भी नहीं होता।

प्रश्नः- यहाँ जो "भुंक्ष्व" कहकर भोग भोगने की छूट दे दी है, वह तो ठीक है न?

उत्तरः- भाई! यह कलश लिखनेवाले मुनि हैं, वे भला भोग भोगने की छूट दे सकते हैं? क्या वे भोग भोगने के लिए कहेंगे? अरे भाई! कथन का अभिप्राय समझना चाहिए। भाई! ज्ञानी भोग भोगता ही कहाँ है? यहाँ "भुंक्ष्व" का अर्थ तो यह है कि परद्रव्य से तुझे कोई हानि नहीं है, ऐसा कहकर आचार्य ने आत्मा की स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए तुझे निशंक किया है। शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया या बाह्यसंयोगों के कारण धर्मी को अपराध नहीं होता"—ऐसा कहकर परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष कम करने एवं वहाँ से उपयोग हटाकर आत्मा में ले जाने के लिए वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराया है। यहाँ यह कहा है कि स्वद्रव्य के स्वभाव से निरपराधभाव से परिणमन करते हुए ज्ञानी जीव के परद्रव्य के कारण अपराध नहीं होता।

भाई! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यप्रकाश का पुंज है। जिसने उसको अन्तर में—स्वानुभव में स्वीकार किया है, उस धर्मी को शुद्ध चैतन्यमय परिणमन होता है तथा वह निर्मल परिणमन परद्रव्य के कारण अन्यरूप या विकाररूप नहीं होता। कोई भी कर्म आदि परद्रव्य उसे पररूप नहीं कर सकता। शरीरादि की चाहे जैसी क्रिया हो, तो भी वह निरपराधी भगवान आत्मा को अपराधरूप करने में समर्थ नहीं है।

अहाहा....! आचार्य कहते हैं कि "हे ज्ञानी! तू कर्मोदयजनित उपभोग को भोग! अर्थात् तू बाहरी सामग्री को भोग"। यह कहने का तात्पर्य यह है कि कदाचित् तेरा उपयोग वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से बाहरी सामग्री में जावे तो तू चिन्ता मत कर। उस बाह्यसामग्री के कारण—पर के कारण तुझे कोई नुकसान नहीं होता। उन बाह्यसामग्रियों

की चिन्ता मत कर। हाँ, तेरा लक्ष्य जो वहाँ गया है और विकल्प उठा है, वह तेरे ही पुरुषार्थ की कमजोरी है, तेरा ही दोष है, अपनी कमजोरी को देख। परवस्तु के कारण दोष नहीं हुआ, अतः पर से लक्ष्य हटा। उस पर रुष्ट-तुष्ट मत हो। जो पैसे का खूब संचय हुआ और शरीर की क्रिया विषय-कषाय रूप हुई, उस पैसे या शरीर की क्रिया से हानि नहीं हुई, बल्कि उस समय जो तेरे भावों में उस वस्तु से एकत्व-ममत्व हुआ वह विपरीत भाव ही तेरी हानि का कारण है, उस पर ध्यान दे।

अज्ञानी आजतक अपनी भूल को पर या संयोगों पर ही टालता रहा है—यह कलश इसी सत्य का उद्घाटन करने के लिए है, न कि भोग भोगने की छूट देने के लिए। पर क्या करें? अज्ञान की ऐसी ही महिमा है कि वह वीतराग वाणी में से भी राग को ही खोजता है।

देखो, आचार्य ने स्वयं कहा है—इस जगत में पर के अपराध से उत्पन्न हुआ बंध तुझे नहीं होता।

कलश १५० के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव सहज स्वाधीन ही है तथा ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान जो ज्ञान व आनन्दरूप से परिणमित होता है, उसे कोई भी परद्रव्य अज्ञानरूप नहीं परिणमा सकता। शरीर की चाहे जैसी क्रिया हो व लक्ष्मी का अम्बार (ढ़ेर) लगा हो तो भी उसके कारण जीव में अज्ञानभाव नहीं होता। जो अज्ञान होता है वह तो जीव के स्वयं के अपराध से होता है। ज्ञानी के वह अज्ञान नहीं है। अतः वह तो ज्ञानरूप से ही परिणमित होता है, उसके परिणाम में अज्ञानमय अशुद्धता है ही नहीं। ज्ञानी के तो शरीरादि के उपभोग के काल में भी अशुद्धता (अस्थिरता) क्षीण होती जाती है और शुद्धता बढ़ती जाती है; क्योंकि पर के कारण तो जीव में अशुद्धता होती ही नहीं है। बात जरा सूक्ष्म है, समझ के फेर के कारण यदि कोई स्वच्छन्द हो जावे तो यह तो उसी की भूल है, यहाँ ऐसे अज्ञानी की बात नहीं है। यहाँ तो सिद्धान्त को सिद्ध किया गया है।

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु है और उसे देखने-जाननेवाले को तो ज्ञान व आनन्द का परिणाम ही होता है। उस ज्ञानमय परिणाम को परद्रव्य की क्रियाएँ पलट दें—अज्ञानमय करदें—ऐसा कभी तीनकाल में भी संभव नहीं है। अहा! परद्रव्य आत्मा को अज्ञानरूप से कभी परिणमा ही नहीं सकता — यह जिनागम का अटल सिद्धांत है। परद्रव्य के कारण लाभ-हानि नहीं होती, अतः संयोग कम हों या अधिक, संयोगों की कमी-बेशी से कम या अधिक बन्ध नहीं होता। हाँ, उन्हें अपना मानना या उनमें हर्ष-विषाद करना तथा उनमें अज्ञानभाव के कारण राग-द्वेष की तीव्रता व मंदता होने से बन्ध होता है। परन्तु यहाँ तो ज्ञानी की बात है। ज्ञानी की ऐसी मान्यता ही नहीं है इसलिए उसके बंध नहीं होता।

निश्चय से तो पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा में निर्मलपर्याय की उत्पत्ति होना ही संयोग है तथा पूर्व की पर्याय का व्यय होना वियोग है। धर्मी को तो ऐसा संयोग-वियोग होता है। पंचास्तिकाय की 18वीं गाथा में आता है कि नित्यानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा को जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायें होती हैं, वह संयोग हैं तथा पूर्व की पर्यायों का जो नाश हुआ, वह वियोग है। भाई! यह संयोग व वियोग आत्मा की स्वयं की पर्याय में है। बाहर के संयोग-वियोग तो ज्ञानी के हैं ही कहाँ? बाहर की वस्तु तो परद्रव्य है।

यहाँ कहते हैं कि ये कर्म, शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि परद्रव्यों के कारण आत्मा को अज्ञान व बन्धन नहीं होता। स्वयं को जो पूर्व में अज्ञान था, वह भी पर के कारण नहीं हुआ था, स्वयं ने ही पर से व राग से एकताबुद्धि की थी, उससे अज्ञान हुआ था और अब स्वयं ने स्वद्रव्य के लक्ष्य से अज्ञान टालकर ज्ञान प्राप्त किया है। कोई परद्रव्य किसी को अज्ञानरूप कर दे — ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। भाई! यह तो तत्वदृष्टि की बात है। जिसकी अन्तरात्मा में अपना शुद्ध अंतःतत्व अनुभव में आया है, उसकी वर्तमान पर्याय में संयोगी पदार्थ कम हों या

अधिक हों, वे ज्ञान को अज्ञानरूप नहीं कर सकते; क्योंकि स्वद्रव्य को परद्रव्य तो स्पर्श ही नहीं करता।

अब कहते हैं कि यहाँ जो यह कहा है कि तुझे पर के अपराध से बंध नहीं होता, इसलिये तू परद्रव्य को भोग—इसका अर्थ यह है कि तू वर्तमान में भले ही परद्रव्य के संयोग में दिखाई दे, परन्तु उस संयोग से तुझे बन्धन नहीं होता। यहाँ भोगने का अर्थ यह है कि तू संयोग में हो तो हो, उससे तुझे बन्धन नहीं होता। तथा भले कोई बाहर के संयोगों को घटाकर त्यागी बन जाय, तो भी यदि आत्मानुभव नहीं हुआ तो केवल संयोग कम हो जाने से बंधन में कमी नहीं आती; क्योंकि संयोग के कम या अधिक होने से कर्म का बन्धन कम या अधिक नहीं होता, बल्कि संयोगीभाव टूटने से बन्धन कटता है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दचार्य व अमृतचंद्राचार्य पुकार-पुकार कर कहते हैं कि हे भगवन्! तू स्वद्रव्य है न? यदि तुझे स्वद्रव्य की दृष्टि का परिणमन हुआ है तो परद्रव्य के घने संयोग रहें तो भी तुझे उनसे कोई हानि नहीं है, क्योंकि परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं है। लोग भले ही कहें कि इतना अधिक परिग्रह, फिर भी धर्मात्मा! हाँ, यदि स्वद्रव्य में पर को व राग को अपना माना हो तो भले कुछ भी परिग्रह न हो तो भी मिथ्यात्व का महापाप होता है।

भाई! शरीर का आकार छोटा हो तो आत्मप्रदेश भी थोड़े में फैलते हैं, परन्तु उससे आत्मा को क्या लाभ-हानि है? कुछ भी नहीं। जब केवली-समुद्घात होता है, तब लोक के आकार बराबर आत्मप्रदेश फैल जाते हैं, पर उससे केवली को क्या नुकशान होता है? कुछ भी नहीं। जब अपने ही छोटे-बड़े आकार से हानि-लाभ नहीं होता तो परद्रव्य के आकार से हानि-लाभ कैसे हो सकता है? भाई! जैनदर्शन के सिद्धान्त कोई अलौकिक हैं।

आचार्य कहते हैं कि "उपभोग भोगने से बंध होगा — ऐसी शंका मत कर" यहाँ भोगने का अर्थ संयोगों के बीच रहना मात्र है, क्योंकि

ज्ञानी की दृष्टि में संयोग तो परवस्तु है और परवस्तु में उसे अनुराग—एकत्व-ममत्व होता ही नहीं है, अतः उसके बंध कहाँ से होगा? बंध का कारण तो संयोग नहीं, उनमें एकत्व-ममत्व है, जो ज्ञानी के होता नहीं है।

पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा तो अनन्त गुणधाम है। अहाहा! जिसमें से निरन्तर आनन्द ही झरता हो, ऐसे जीव की पर के छोटे-मोटे संयोगों के कारण परिणति पलटकर अपराधरूप या बन्धरूप हो जायगी—ऐसी शंका मत कर।

भाई! यह सिद्धान्त स्वच्छन्दी होने के लिए नहीं है, किन्तु तुझे पर के कारण दोष होता है—ऐसी शंका से मुक्त होने के लिए है।

चक्रवर्ती को एक-एक मिनट की अरबों की आमदनी होती है, भारी नवनिधान होते हैं, तो भी उन्हें कभी ऐसी शंका नहीं होती कि इस वैभव और इन बड़े भारी संयोगों के कारण मुझे बंध हो रहा है या मैं अपराधी हूँ। भाई! बाह्यसंयोगों से छोटे-बड़े अपराध का माप नहीं है। और संयोगों को छोड़ा—इससे कोई निरपराधी नहीं हो जाता। नग्न मुनि हुआ, राजपाट छोड़ा, हजारों रानियाँ छोड़ीं; इसलिए वे धर्मात्मा नहीं हो गये, धर्मात्मा का माप बाहर से नहीं अंतर से होता है। जबतक शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि न हो तबतक संयोग घट गये हों तो भी वह मिथ्यादृष्टि ही है तथा अनेक संयोगों के बीच हो और चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा की पहचान हो गई हो तो वह निरपराधी धर्मात्मा है।

"उपभोग" का अर्थ पूर्व पुण्योदय से केवल अनुकूल संयोगों का मिलना है, किन्तु वे संयोग अपराध नहीं हैं तथा उनसे आत्मा को कुछ हानि या लाभ नहीं है; क्योंकि वस्तुतः वस्तु में परद्रव्य का ग्रहण-त्याग होता ही नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि भगवान आत्मा में एक त्यागोपादान शून्यत्व-शक्ति है, एक ऐसा गुण है कि अनादिसत्‌स्वरूप भगवान आत्मा न तो एक परमाणु मात्र परपदार्थ का ग्रहण करता है और न त्याग।

भगवान आत्मा तो त्यागोपादानशून्यत्व-शक्ति से सम्पन्न है। भाई! पर का त्याग करना व पर का ग्रहण करना—यह वस्तु में अर्थात् आत्मद्रव्य में है ही नहीं। जहाँ ऐसा वस्तुस्वरूप है, वहाँ 'पर का त्याग किया; इसलिए मैं त्यागी हूँ' — ऐसा अभिमान करना ही मिथ्या है। निश्चय से तो राग के त्याग का कर्तापना भी आत्मा के नहीं है। वीतरागस्वरूप भगवान स्वयं है—ऐसी जिसको अन्तर्दृष्टि हुई है, उसके राग का त्याग हुआ—ऐसा कहना नाममात्र है, क्योंकि स्वयं शुद्धद्रव्य रागरूप हुआ ही नहीं है, तो राग का त्याग किया—यह बात ही कहाँ से आई ?

३४वीं गाथा में आया है कि धर्मात्माओं ने राग का त्याग किया है, वह भी नाममात्र कथन है। जो स्वयं ग्रहण-त्याग से रहित ही है, वह ऐसा माने कि मैं त्याग करूँ तो धर्म होगा तो उसकी यह मान्यता ही मिथ्या है—अज्ञान है। उसे अपनी त्यागोपादान शून्यत्व-शक्ति की खबर नहीं है। अतः वह पर के ग्रहण-त्याग से अपने को छोटा-बड़ा मानता है।

अहाहा....! भगवान आत्मा तो अपना व पर का मात्र माप करता है, ज्ञान करता है। माप करनेवाला कहो या ज्ञान करनेवाला कहो दोनों एक ही बात है। प्र + माप = विषेश माप। भगवान आत्मा अपने व पर के स्वरूप का माप करता है, ज्ञान करता है, प्रमाण करता है—यह तो ठीक है; पर इसमें यह मान्यता कहाँ से आ गई कि पर मेरा है और उसके संयोग से मैं बड़ा आदमी हूँ या संयोगों की कमी से मैं छोटा आदमी हूँ। सेठिया बड़ा है और गरीब छोटा है। ये परद्रव्य का संयोग हुआ—इसका मात्र ज्ञान करना आत्मा का कार्य है। संयोग लाभ-हानि करते ही कहाँ हैं ? अतः यह भारी परिग्रह का संयोग मुझे हानिकारक है—ऐसी शंका छोड़ दे।

अब कहते हैं कि भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञायकभाव चैतन्य महाप्रभु है। वह जिसके स्व-संवेदन में आया, अनुभव में आया, उससे कहते हैं कि भाई! संयोग चाहे जितने हों, वे तुझे नुकशानदायक नहीं हैं, उनसे तेरा अहित नहीं होगा। अतः उनसे अहित होता है—ऐसी शंका

छोड़ दे। इसप्रकार परद्रव्य से अपना बुरा होता है—ऐसा मानने की शंका मिटा दे।

परन्तु भाई! ऐसा कहकर आचार्यदेव ने परिग्रह करने और भोग भोगने की छूट नहीं दी है—स्वच्छन्दी होने की प्रेरणा नहीं दी है। कोई संत कभी पाप की प्रेरणा दे सकते हैं क्या? यदि तेरी दृष्टि स्वद्रव्य से हटकर परद्रव्य पर जा अटकेगी और उसमें एकत्व-ममत्व स्थापित करेगी तो नुकशान ही है। अब तू स्वयं अपने को देख कि जब तू पर के संग्रह व उपभोग के भोग में लगा है, उस समय तेरी दृष्टि कहाँ है? यदि तू उस उपभोग में आनन्द मानता है, तब तो तू पापी ही है। भले परद्रव्य के संयोग हों या न हों, कम हों या अधिक हों, यदि तेरी दृष्टि स्व से हटकर पर में अटकी है, तब तो हानि ही हानि है और जिसकी दृष्टि एक ज्ञायकभाव पर स्थिर है, उसके संयोगों का ढेर भी हो, तो भी उससे क्या? क्योंकि एक परवस्तु भी उसकी कहाँ है? एक हो या करोड़—ये सब संख्या तो बाहर की है। बाहर की संख्या से आत्मा को क्या लाभ-हानि हो सकती है? कुछ भी नहीं।

भाई! बाहर से कोई भले ही नग्न दिगम्बर मुनि हो गया हो, परन्तु यदि अन्दर में अपने चिदानन्द भगवान आत्मा का आश्रय छोड़कर स्वंय को रागवाला माने या राग से अपना लाभ होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। और यदि चक्रवर्ती के वैभव के बीच में भी रहता हो और उसे अपना न मानता हो, उससे अपने को बड़ा न मानता हो तथा उससे अपने को सुखी न मानता हो तो वह धर्मात्मा है; क्योंकि उसकी दृष्टि स्वद्रव्य पर है, बाहर के वैभव को परद्रव्य मानने से उसकी दृष्टि में से तो उस सर्व वैभव का त्याग हो ही गया है। आचरण में भी वह उसके प्रति उदास ही है। उसके उपभोग में उसे जरा भी सुखबुद्धि नहीं है, अतः उसके राग को रोगवत् ही जानता है। अंतः वह उसके उपभोग में स्वच्छन्दी होकर लीन नहीं रहता। स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है। स्वच्छन्दी होकर पर को व राग को अपना मानना तो मिथ्यात्व है, महा-अपराध है।

समयसार गाथा २२० से २२३

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं॥२२०॥

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं॥२२१॥

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे॥२२२॥

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे॥२२३॥

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते है :—

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तु भोगते।
पर शंख के शुक्लत्व को नहिं, कृष्ण कोई कर सके॥२२०॥

त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त अचित्त वस्तु भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके॥२२१॥

जब ही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेतस्वभाव को।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को॥२२२॥

त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभाव को।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानता को प्राप्त हो॥२२३॥

गाथार्थः—(शंखस्य) जैसे शंख (विविधानि) अनेक प्रकार के (सचित्ताचित्तमिश्रितानि) सचित्त, अचित्त और मिश्र (द्रव्याणि) द्रव्यों को (भुञ्जानस्य अपि) भोगता है—खाता है तथापि (श्वेतभावः) उसका श्वेतभाव (कृष्णकः कर्तुं न अपि शक्यते) (किसी के द्वारा) काला नहीं

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम्॥२२०॥

तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुंजानस्याऽपि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम्॥२२१॥

यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्॥२२२॥

तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत्॥२२३॥

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णः कर्तुं शक्येत्, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः, तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः। यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्, तथा यदा एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमते तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्। ततो ज्ञानिनो यदि (बन्धः) स्वापराधनिमित्तो बंधः।

किया जा सकता, (तथा) इसीप्रकार (ज्ञानिनः अपि) ज्ञानी भी (विविधानि) अनेक प्रकार के (सचित्ताचित्तमिश्रितानि) सचित्त, अचित्त और मिश्र (द्रव्याणि) द्रव्यों को (भुञ्जानस्य अपि) भोगे तथापि उसके (ज्ञानं) ज्ञान को (अज्ञानतां नेतुम् न शक्यम्) (किसी के द्वारा) अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

(यदा) जब (सः एव शंखः) वही शंख (स्वयं) (तकं श्वेतस्वभावं) उस श्वेतस्वभाव को (प्रहाय) छोड़कर (कृष्णभावं गच्छेत्) कृष्णभाव को प्राप्त होता है (कृष्णरूप परिणमित होता है) (तदा) तब (शुक्लत्वं प्रजह्यात्) शुक्लत्व को छोड़ देता है (अर्थात् काला हो जाता है), (तथा)

इसीप्रकार (खलु) वास्तव में (ज्ञानी अपि) ज्ञानी भी (स्वयं) (यदा) जब (तकं ज्ञानस्वभावं) उस ज्ञानस्वभाव को (प्रहाय) छोड़कर (अज्ञानेन) अज्ञानरूप (परिणतः) परिणमित होता है (तदा) तब (अज्ञानतां) अज्ञानता को (गच्छेत्) प्राप्त होता है।

टीका:—जैसे यदि शंख परद्रव्य को भोगे—खाये, तथापि उसका श्वेतपन अन्य के द्वारा काला नहीं किया जा सकता ; क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता। इसीप्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्य को भोगे तो भी उसका ज्ञान अन्य के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता; क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानी को दूसरे के अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता।

और जब वही शंख, परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, श्वेतभाव को छोड़कर स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव होता है (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है) इसीप्रकार जब वही ज्ञानी, परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है। इसलिये ज्ञानी के यदि बन्ध हो तो वह अपने ही अपराध के निमित्त से (स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) होता है।

भावार्थ:- जैसे श्वेत शंख पर के भक्षण से काला नहीं होता; किन्तु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है, तब काला हो जाता है। इसीप्रकार ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता; किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानी होता है और तब बन्ध करता है।

गाथा २२० से २२३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को परभावस्वरूप करने में कारण नहीं बन सकता। यहाँ "परभाव" का अर्थ केवल विकारीभाव नहीं है, किन्तु कोई भी द्रव्य परद्रव्य को किसी भी

भावरूप नहीं कर सकता। जिसप्रकार शंख परद्रव्यरूप काले कीचड़ को भोगता है—खाता है, तो भी शंख का श्वेतपन पलटकर काला नहीं होता। यहाँ तो यह एक ही सिद्धान्त कहा है कि कोई परद्रव्य किसी अन्य द्रव्य को अन्य स्वरूप या परभावरूप नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि जिस समय जिस द्रव्य की जो पर्याय उसके अपने कारण से होती है, उसे कोई भी बाह्यनिमित्त बीच में आकर पलट दे—ऐसा नहीं होता ।

प्रश्नः- यदि ऐसा है तो फिर निमित्त का क्या काम है? अर्थात् कार्य के होने में निमित्त क्या करता है?

उत्तरः- भाई! निमित्त अन्य द्रव्य का (उपादान का) कर ही क्या सकता है? उपादान में निमित्त तो कुछ भी नहीं करता। अन्य की अपेक्षा—उपादान की अपेक्षा निमित्त कहा जाता है, अपना परिणमन करने में कारण तो वह उपादान ही है। अहा! आत्मा पर का कुछ भी नहीं करता तथा परद्रव्य भी आत्मा का कुछ नहीं कर सकता।

प्रश्नः- जब निमित्त कुछ करता ही नहीं है तो निमित्त को मानने से लाभ ही क्या है?

उत्तरः- निमित्तों से पर को लाभ-हानि नहीं होती है, पर निमित्त होते अवश्य हैं, अतः जो हैं उनके अस्तित्व से इन्कार भी नहीं किया जा सकता और वे परद्रव्य में कुछ करते हैं—ऐसा स्वीकार भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे हैं और पर में कुछ करते नहीं हैं—ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

देखा, पर के भोग से आत्मा का ज्ञान अज्ञान नहीं हो जाता; क्योंकि परद्रव्य किसी अन्य द्रव्य को परभावस्वरूप करने का कारण नहीं बनता। पर्याय में जैसी उपादान की योग्यता होती है, वैसा परिणमन होता है तथा उस समय परवस्तु निमित्तरूप होती है; किन्तु वह परवस्तु (निमित्त) उपादान के भाव में कुछ भी प्रभाव—असर—योगदान नहीं करती। निमित्त पर में अकिंचित्कर है।

प्रश्नः- "नियतक्रम' की वात से तो नियतिवाद आ जायेगा न?

उत्तर :- नहीं आयेगा, क्योंकि सम्यक् नियतक्रम में पांचों समवाय आ ही जाते हैं। अहा! पर्याय के होने का जो क्रम व समय है, उसे त्रिकाल में भी कोई नहीं पलटता। वस्तुस्थिति ही ऐसी है। तथा इसका यथार्थ निर्णय होता ही उसे है, जिसकी दृष्टि अन्तर में द्रव्यस्वभाव पर गई है। अहा! जब शुद्ध एक चैतन्यद्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाती है, तब उसे पर्याय में पाँचों समवायों से कार्य हुआ—ऐसा यथार्थज्ञान होता है। अहा! प्रत्येक कार्य में पाँचों समवाय होते हैं, जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होती है, वहाँ उस समय उसका स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य तथा योग्य निमित्त पाँचों होते ही हैं। जिस समय चैतन्य की जो पर्याय होने का काल है, उसीसमय उसे अनुकूल वहिरंग निमित्त होते ही हैं। जिसप्रकार नदी के पानी के प्रवाह के निकट दोनों कूल (किनारे) होते हैं, उसीप्रकार कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल निमित्त भी होते हैं।

प्रश्नः- निमित्त अनुकूल तो होते हैं न?

उत्तरः- हाँ, होते हैं; पर अनुकूल का अर्थ क्या? अनुकूल का अर्थ इतना ही है कि जिसतरह पानी के निकट तो किनारे हैं, बस इसके सिवाय वे कूल क्या करते हैं? कुछ नहीं। पानी जो चलता है, वह तो अपने स्वयं की योग्यता से चलता है, वे किनारे पानी को प्रवाहित नहीं करते, वे उसके चलने में कारण भी नहीं, बस प्रवाह के अनुकूल हैं। इसकारण उन पर निमित्तता का आरोप आया है, उन्हें निमित्त कहा गया है। निमित्त अनुकूल होते हैं व नैमित्तिक उनके अनरूप होते हैं।

द्रव्य में जिस काल में जो पर्याय होती है, उस काल में उसका उचित बहिरंग निमित्त होता अवश्य है; पर निमित्त द्रव्य की पर्याय को करता नहीं है।

प्रश्नः- हाँ; निमित्त होता है, उपादान होता है, तो भी जो प्रतिबन्धक कारण होवे तो कार्य नहीं होता, जैसे कि दीपक प्रज्वलित होने

की योग्यता है, दीपक (मिट्टी का दीप) निमित्त भी है; परन्तु यदि पवन का प्रकोप हो तो दीपक प्रज्वलित नहीं होता। यहाँ निमित्त ने कार्य किया या नहीं?

उत्तर:- बापू! ऐसा नहीं है। जब कार्य होने का काल होता है, तब सर्व सामग्री (पांचों समवाय) होती ही है तथा प्रतिबन्धक कारण नहीं होते। तब उपादान भी होता है और निमित्त भी होता है, तथापि निमित्त बाहर की—दूर की वस्तु है। वह अन्दर में उपादान का स्पर्श नहीं करते। यदि स्पर्श करें तो निमित्त नहीं रहते। बापू! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं—यह मूल बात है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के पर के अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता। देहादि—पर की क्रिया से ज्ञानी को अपराध या बंध नहीं होता, क्योंकि परद्रव्य किसी द्रव्य को परस्वभावस्वरूप करने का निमित्त नहीं बनता। किसी एक द्रव्य के भाव को कोई अन्य द्रव्य करे, उसे पलट दे—ऐसा वस्तुस्वरूप है ही नहीं।

अब कहते हैं कि वही शंख जब परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा नहीं भोगता हुआ श्वेतभाव को छोड़कर स्वयमेव कृष्णभाव से परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभावरूप हो जाता है। अर्थात् स्वयं से करने में आता हुआ वह कृष्णभावरूप हो जाता है।

देखो, शंख कालीमिट्टी, कीड़ा आदि का भक्षण करते हुए काला नहीं होता; परन्तु जब शंख स्वयं कालेरूप परिणमन करता है, तब काली मिट्टी, कीड़ा आदि को खावे या न खावे, तो भी वह अपने काल में कृष्णरूप परिणमन कर जाता है। तब उस समय बाह्यवस्तु जो अनुकूल होती है, उसे निमित्त कहा जाता है। निमित्त उसे कृष्णरूप नहीं परिणमाता। शंख तो स्वयं अपनी योग्यता से परिणमन करता है। बाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र हैं।

भाई! यह तो जीव का व परमाणु मात्र की स्वतंत्रता का ढिंढोरा है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में छहों द्रव्य की काललब्धि होती है—ऐसा

स्वामीकार्तिकेय ने कहा है। प्रत्येक द्रव्य की समय-समय की पर्याय की लब्धि अर्थात् प्राप्ति का काल होता है तथा उससे वह समय-समय परिणमता है। प्रवचनसार गाथा १०२ में पर्याय का जन्मक्षण होने की वात कही है। दोनों एक ही बातें हैं। इसकारण उस पर्याय की उत्पत्ति का जो काल है, वह उसी काल में उत्पन्न होती है।

आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नाम की शक्ति है और उसमें अकार्य-कारणत्वशक्ति का रूप है। इसकारण आत्मा में जो उत्पाद होता है, उसमें अकार्यकारणत्वशक्ति का रूप होने से वह अन्य का कारण नहीं बनता और किसी का कार्य भी नहीं है। जिसप्रकार आत्मा में एक ज्ञानगुण है और उसमें अकार्यकारणत्वशक्ति का रूप है, इसकारण ज्ञान का जिस काल में जो परिणमन होता है, 'वह किसी अन्य का कारण नहीं है और कोई का कार्य भी नहीं।' इस सिद्धान्तानुसार द्रव्य में जो परिणमन होता है, वह किसी अन्य के कारण से नहीं तथा वह किसी अन्य का कारण बने—ऐसा भी नहीं बनता।

देखो, यहाँ टीका में जो "स्वयमेव" शब्द है, उसका अर्थ है— "स्वयं ही" किसी अन्य कारण से नहीं, परन्तु कोई-कोई "स्वयं ही" अर्थ न करके "स्वयंरूप—अजीवरूप" अर्थ करते हैं, जो कि यहाँ इष्ट नहीं है। यहाँ तो स्वयमेव का अर्थ 'स्वयं से ही है।' वह पर्याय अपने कारण से ही' परिणमित होती है, किसी अन्य निमित्तादि से नहीं—यही अर्थ ठीक है। तथा प्रतिबन्धक कारणों से वह रुक जाती हो अथवा प्रतिबंधक कारणों के हट जाने से होती हो जाती हो—ऐसा भी नहीं है।

अहा! इसका अर्थ यह है कि कर्मों के अभाव से केवलज्ञान नहीं होता, बल्कि आत्मा में एक अभाव नाम की शक्ति है, उससे तो वह निमित्त के अभावरूप परिणमित हुआ है तथा आत्मा में एक भाव नाम की शक्ति है, उसका कार्य यह है कि द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होनी होती है, वह उसी काल में होती है। यह भावगुण का कार्य है, परन्तु निमित्त का कार्य नहीं है। तथा संयोगी वस्तु के कारण कार्य हुआ—ऐसा भी नहीं है।

अहाहा....! भगवान आत्मा में एक "भाव" नामक गुण है। और उसको धारण करनेवाला भगवान आत्मा भगवान है। उस भगवान पर जब भी दृष्टि जाती है, तभी भावगुण के कारण उसमें निर्मलपर्याय ही प्रगट होती है, मलिन की तो वहाँ बात ही नहीं है। अतः हे भाई! तू हठ छोड़कर मध्यग्थ होकर समझने का प्रयत्न कर। यह कोई कल्पित सिद्धान्त नहीं है। यह तो अनन्त तीर्थकरों की दिव्यध्वनि में आई हुई तात्विक बात है।

भाई! इसके निर्णय करने से निश्चित ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। "जिस काल में जो होने योग्य होता है, वही होता है तथा उसमें निमित्त कुछ नहीं करता—ऐसा स्वतंत्रता का निर्णय करते ही तुरन्त दृष्टि पर्याय से व पर से हटकर निश्चित ही एक ज्ञायकभाव पर जाती है। बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ भगवान की सर्वज्ञता के आधार पर किये गये निर्णय पर हम निश्चिंत हो जाते हैं कि—

जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी होसी नहिं कबहुँ, काहे होत अधीरा रे।।

जिसप्रकार ऐसा निर्णय करनेवाली दृष्टि एक ज्ञायकभाव पर जाती है, उसीप्रकार त्रिकाल ध्रुव सर्वज्ञस्वभावी एक ज्ञायकभाव भगवान आत्मा को कारण बनावे तो भी, 'पर्याय अपने स्वकाल में क्रमबद्ध होती है'—ऐसा यथार्थ निर्णय हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि देखो, टीका में दो शब्द आये हैं—'स्वयमेव' एवं 'स्वयंकृत'। पहला शब्द है "स्वयमेव" अर्थात् स्वयं से ही। दूसरा शब्द है "स्वयंकृत" अर्थात् स्वयं से किया गया। तात्पर्य यह है कि वह शंख जब स्वयं से ही कृष्णभावरूप परिणत हुआ तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव को प्राप्त हुआ है।

प्रश्नः- शास्त्रों में जगह-जगह पुण्योदय-पापोदय एवं दर्शनमोह व चारित्रमोह के उदय से अनेक प्रकार के बाह्य धन-सम्पदा आदि के

अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों एवं मिथ्यादर्शन व असंयमरूप भाव होने की चर्चा खूब आती है और उसे भी सर्वज्ञ की वाणी कहा गया है, करणानुयोग को तो धर्मकांटे की तरह प्रामाणिक माना जाता है, उस कथन से इस सिद्धान्त का सुमेल कैसे हो सकता है?

उत्तरः- भाई! धन-सम्पत्ति, रुपया-पैसा आदि पुद्गल परमाणु की पर्याय तो जिस काल में, जिस रीति से होनी थी, वह उसी रीति से हुई है, वह कहीं जीव के पुण्य-पाप के कारण अनुकूल-प्रतिकूल नहीं परिणमी है। पुण्य-पाप रूप कर्म के रजकण तो उससे सर्वथा भिन्न ही हैं। वे तो इस धनादि को छूते ही नहीं हैं। तथा जो धनादि होता है, वह धनादि का है, उसमें जीव का कुछ भी नहीं है।

देखो, आत्मा स्वयमेव अज्ञानरूप से परिणमता है अर्थात् विषयभोगों में रुचि करके स्वयं ही अज्ञानभाव से परिणमित होता है। विषयभोगों में रसरूप—मिठासरूप जो अज्ञानभाव है, उसे अज्ञानी स्वयं ही करता है। मोहनीय कर्म का उदय उस अज्ञानभाव को नहीं करता, क्योंकि कर्म का उदयरूप निमित्त जीव के भावों को अज्ञानरूप नहीं करा सकता। जीव स्वयं ही—अपने से ही अज्ञानभावों को करता है।

अहाहा....! जब जीव स्वयमेव अज्ञानरूप से परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान भी स्वयंकृत अर्थात् अपने ही द्वारा अज्ञानरूप होता है, उसमें किसी अन्य का कर्तृत्व नहीं होता। देखो, दोनों ही कथनों में "स्वयमेव" व "स्वयंकृत" शब्द आते हैं। पहले शंख के दृष्टान्त में आया था कि शंख सफेद से स्वयं ही काला हुआ है तथा वह कालापन स्वयंकृत है, निमित्त से कराया हुआ नहीं है। और अब सिद्धान्त में भी यही कहा है कि ज्ञान स्वयमेव अज्ञानरूप हुआ है तथा ज्ञान का अज्ञानरूप होना स्वयंकृत है, निमित्त से या कर्म से कराया हुआ नहीं है।

"मैं कर्ता हूँ, मैं करता हूँ, यही है अज्ञानता
शकट का भार ज्यों श्वान ताने।"

अर्थात् जिसप्रकार कुत्ता गाड़ी के नीचे-नीचे चलता है और ऐसा मानता है कि मैं गाड़ी खींच रहा हूँ—चला रहा हूँ, उसीप्रकार अज्ञानी

दुकान की गद्दी पर बैठकर ऐसा मानता है कि मैं ही कमाता हूं, क्योंकि इस सब काम का ध्यान मैं ही रखता हूँ न? अन्यथा सभी लुट गया होता? पर, भाई! ऐसा माननेवाला अज्ञानी है।

प्रश्नः- यह सब काम जो हम कर रहे हैं, इन्हें हम नहीं करते तो और कौन कर जाता है? कोई देवता तो करने आते नहीं है और हम साफ-साफ करते हुए दिखाई देते हैं, इस प्रत्यक्ष सत्य को कोई हमारा कार्य कैसे नहीं मानेगा? और हम भी इसे आपके कहने से अपना कार्य मानना कैसे छोड़ देगें?

उत्तरः- अरे भाई! ये सब जड़ (पुद्गल) के कार्य क्या आत्मा करता है? आत्मा तो जड़ को छूता भी नहीं है। अरे भाई! ये सब जड़ के कार्य तो जड़ के ही कारण से होते हैं, आत्मा तो इन्हें कर ही नहीं सकता।

देखो! यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी अपने "ज्ञानस्वभाव को छोड़कर स्वयं अज्ञानरूप से परिणमित होता है" पहले भी गाथा १२१ से १२५ में भी "स्वयं" शब्द आया है, वहाँ कहा है कि यदि वस्तु में स्वयं परिणमने की शक्ति न हो तो उसे पर के द्वारा कैसे परिणमाया जा सकता है? तथा यदि "स्वयं" परिणमित होने की शक्ति है तो उसे पर की जरूरत ही क्या है? अहा! इतना स्पष्ट है, फिर भी समझ में नहीं आता तो इसमें भी स्वयं का ही दोष है, अन्य किसी का नहीं।

देखो, भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार जगत में जो अनन्तद्रव्य हैं, वे अनन्त ही हैं — ऐसा माना कब कहा जाये? जबकि ऐसा मानने में आवे कि अनन्तद्रव्य अनन्तरूप से रहते हैं तथा प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र, पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं। अहाहा......! अनन्तद्रव्य प्रत्येक स्वयंकृत हों तो ही अनन्तद्रव्य भिन्नपने रहें, यदि उनमें पर से कुछ भी यत्किंचित् होना मान लिया तो अनन्त भिन्न-भिन्न नहीं रहेंगे। सब एक-दूसरे में मिल जायेंगे तथा उनका अनंतपना समाप्त हो जायगा।

भाई! आचार्य यहाँ तो यह कहते हैं कि अपने में पर की पर्याय भी कुछ नहीं कर सकती। जिसप्रकार जब शंख का श्वेत से काला होने का काल होता है, तब वह स्वयं स्वयं से ही काला होता है, वह पर के

द्वारा काला नहीं किया जा सकता। उसीप्रकार ज्ञानी को भी जब पर में एकत्वरूप रुचि होती है तब उस काल में वह स्वयं स्वयं से ही अज्ञानरूप परिणमित होता है। पर के कारण या दर्शनमोह कर्म के कारण नहीं।

अहाहा....! कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान को छोड़कर जब स्वयमेव अज्ञानरूप से परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञानरूप होता है, पर के कारण नहीं। अतः ज्ञानी के जो कुछ-जितना भी बन्ध होता है, वह अपने अपराध के निमित्त से ही होता है अर्थात् जब स्वतः स्वयं ही अज्ञानभाव से परिणमित होता है, तब होता है।

प्रश्नः-"अपने ही अपराध के निमित्त से" का क्या अर्थ है?

उत्तरः- इसका अर्थ यह है कि ज्ञान जो अज्ञानरूप होता है, वह अपने आत्मा के अपराध से ही होता है। शरीर की क्रिया या भोग की वाह्यक्रिया से नहीं। जब जीव स्वयं अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब उस अज्ञानरूप परिणमन से बंध होता है। पर में, विषय में मिठास आना अज्ञानकृत अपनी बुद्धि का ही परिणाम है, अतः उस अज्ञान से ही बन्ध होता है, भोग या विषयसामग्री से नहीं।

ज्ञानी शुद्ध चैतन्यमय अपने अबन्ध परिणाम का कर्ता है, वह बन्धभाव का या विकार का कर्ता नहीं है, इसकारण उसको बन्ध नहीं होता। परन्तु यदि ज्ञानी शुद्ध ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमित होता है, तो उसे बन्ध होता है। उसे यदि पर में मिठास आ जावे, रस आ जावे तो पर में एकत्व करने के कारण उसका ज्ञान स्वयं अज्ञानरूप हो जाता है और उससे उसे बन्ध होता है, वाह्य विषयसामग्री या पर के संयोग मात्र बंध के कारण नहीं हैं।

अहा! भरत चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियाँ थीं और उनके उन रानियों का उपभोग भी छह लाख पूर्व तक निरन्तर रहा। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं—ऐसे छह लाख पूर्व तक भरत के जीवन में भोगोपभोग सामग्री का संयोग रहा; परन्तु उसमें उन्हें एकपने की आशक्ति नहीं थी—इसकारण उनके बन्ध नहीं हुआ। परन्तु जितना-जितना अस्थिरताजनित राग था, उतने अंश में ज्ञानी के भी किंचित् अल्पराग होने से उतना अल्पबंध है। वे सर्वथा अबन्ध ही हो

गये थे—ऐसा इसका अर्थ नहीं समझ लेना। परन्तु इस अल्पबंध को यहाँ दृष्टि के विषय में गौण करके उन्हें अबन्ध कहा है। उस अल्पराग व तज्जनित बंध को यहाँ गिना नहीं है। देखो, वह अल्प दोष था; परन्तु ज्यों ही वे उग्र पुरुषार्थ करके अन्दर में—ध्यान में चले गये तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अहा ! छहलाख पूर्व तक भोग की आसक्ति के दोष को अन्तर्मुहूर्त में फटाक से नष्ट कर दिया। उस अल्प दोष की क्या कीमत है, जिसे अन्तर्मुहूर्त में नष्ट किया जा सकता है। बस, इसीकारण उसे गौण कर दिया जाता है। तथा यहाँ इस प्रकरण में तो अज्ञानी के ही बन्ध है, ज्ञानी के नहीं—यह सिद्ध करना है।

देखो, राजा श्रेणिक ने सातवें नरक की तेंतीस सागर की आयु बांधी थी, परन्तु ज्यों ही उन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो एकदम तैंतीस सागर से घटकर केवल चौरासी हजार वर्ष की ही आयु रह गई।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि पर के कारण बन्ध नहीं, परन्तु पर में जो एकपने की आसक्ति है, उससे बन्धन होता है। ज्ञानी को पर में तीव्र आसक्ति नहीं है, इसकारण उसे वैसा बन्ध भी नहीं है। यत्किंचित् आसक्ति होने से यत्किंचित् बन्ध है, जिसकी यहाँ गिनती नहीं है; क्योंकि वह बंध अनन्तसंसार का कारण नहीं है।

भाई! अन्दर में राग से भिन्न पड़कर अर्थात् भेदज्ञान करके जिसने आत्मा का अनुभव किया है, उसे नरक में भी आनन्द की गटागटी है। तथा यहाँ कोई अज्ञानी अरबपति भी होवे तो उसे भी दुःख की गटागटी है। अहा! नरकों में जलते हुए मुर्दा जैसा शरीर होता है तथा जन्म से ही सोलह तो भंयकर रोग होते हैं तो भी यदि अन्दर सच्चिदानंदमय अपने भगवान आत्मा का भान हो गया हो तो वह नरक में भी सुखी है, निराकुल है। अहा! ज्ञानी के मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय टल गई है, अतः उसे नरक में संयोग प्रतिकूल भासित नहीं होते। जीव को मूलतः तो कषाय का ही दुःख है, संयोग का नहीं, इस बात का विवेक ज्ञानी को हो जाता है। अतः वह संयोग में दुःख-सुख देखता ही नहीं है। स्वभाव पर दृष्टि रहने से वह नरकों में भी सुखी रहता है।

गाथा २२० से २२३ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि जिसप्रकार श्वेत शंख परपदार्थ के भक्षण से काला नहीं होता, किन्तु जब स्वयं ही अपनी योग्यता से कालिमारूप परिणमित

हो, तभी काला होता है। उसीप्रकार ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता, किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप से परिणमित होता है, तब अज्ञानी होता है और तब बंध करता है।

जिसका रंग गोरा है, वह कस्तूरी आदि काली वस्तु खाने से क्या काला हो जाता है? तथा जो काला है वह दूध, मक्खन और केशर आदि खाने से क्या गोरा निकल आता है? यदि ऐसा होता तो ये सेठिया जो स्वयं भी काले हैं और इनके बच्चे भी काले हैं, इनमें कोई भी काला नहीं रहता। इनके पास मक्खन-मलाई और केशर की क्या कमी है? अरे भाई! जबतक स्वयं ही पलट कर अपनी दशा नहीं पलटेगा तबतक बाहर के कारण कुछ नहीं कर सकते। परद्रव्य से सुखी होने की तेरी मान्यता तो मिथ्या है और उसे स्वयं तूने ही किया है।

करणानुयोग में कर्म की मुख्यता से ही अधिकांश कथन है, उसके सम्यक्पने को न जानने से निमित्त-नैमित्तिक सहज सम्बन्ध में कर्ता-कर्म की भ्रान्ति हो जाती है। वस्तुतः देखा जाय तो दुःख भी कर्म के कारण नहीं हुआ है, बल्कि जीव ने स्वयं अपनी भूल से उत्पन्न किया है, कषाय और मिथ्यात्व स्वयं भी दुःखस्वरूप हैं और ये ही दुःख के कारण हैं।

जिसने आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा की दृष्टि की है, दिशा पलटकर अन्तर दशा प्रगट की है, वह चाहे निर्धन हो या नरकों में हो, सुखी ही है। इस सबसे स्पष्ट है कि संयोग सुख-दुःख के कारण नहीं है, बल्कि संयोगीभाव ही दुःख के कारण हैं।

ज्ञानी के भाव जो निर्जरा के कारण कहे हैं, उनकी ऐसी अपेक्षा है कि ज्ञानी की दृष्टि में—अन्तरात्मा में भगवान आत्मा विराजता है, उसी पर उसकी दृष्टि रहती है, शेष जितने अंश में भोगों में राग है, वह तो पाप व दुःख है ही। वहाँ केवल दृष्टि की प्रधानता से स्वभाव की मुख्यता पर जोर देने के लिए ऐसा कहा गया है कि ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं।

जिनवाणी के कथन की मुख्यता व गौणता को समझकर सही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

कलश—१५१

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधः स्वादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्॥१५१॥

श्लोकार्थः- (ज्ञानिन्) हे ज्ञानी! (जातु किंचित् कर्म कर्तुम् उचितं न) तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है (तथापि) तथापि (यदि उच्यते) यदि तू यह कहे कि (परं मे जातु न, भुंक्षे) "परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" (भोः दुर्भुक्तः एव असि) तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकार से भोगनेवाला है, (हन्त) जो तेरी नहीं है उसे तू भोगता है—यह महा खेद की बात है! (यदि उपभोगतः बन्धः न स्यात्) यदि तू कहे कि "सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता, इसलिये भोगता हूँ", (तत् किं ते कामचारः अस्ति) तो क्या तुझे भोगने की इच्छा है? (ज्ञानं सन् वस) तू ज्ञानरूप होकर (शुद्धस्वरूप में) निवास कर, (अपरथा) अन्यथा (यदि भोगने की इच्छा करेगा—अज्ञानरूप परिणमित होगा तो) (ध्रुवम् स्वस्य अपराधात् बन्धम् एषि) तू निश्चयतः अपने अपराध से बन्ध को प्राप्त होगा।

भावार्थः- ज्ञानी को कर्म करना ही उचित नहीं है। यदि परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है। परद्रव्य के भोक्ता को तो जगत में चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा जाता है। और जो उपभोग से बन्ध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी इच्छा के बिना ही पर की जबरदस्ती से उदय में आये हुए को भोगता है वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा। यदि वह स्वयं इच्छा से भोगे तब तो स्वयं अपराधी हुआ और तब उसे बन्ध क्यों न हो?

कलश १५१ पर प्रवचन

इस कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि हे ज्ञानी! तुझे कभी भी किंचित् कर्म करना उचित नहीं है।

अहाहा....! जिसे ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्धता का अनुभव हुआ है, देह-मन-वाणी से भिन्न एवं दया-दान-व्रत-भक्ति आदि पुण्यभाव तथा हिंसादि पापभावों से भी जुदे भगवान आत्मा का स्वसन्मुखता से जिसने अनुभव किया है, वे ज्ञानी हैं। ऐसे ज्ञानी को पूर्वकर्म के उदय से अनेक प्रकार की सामग्री मिलती है तो भी वे उस सामग्री को भोगते नहीं हैं, उन्हें उस विषयसामग्री को भोगने की रुचि ही नहीं होती। किंचित् अस्थिरता का होना, यह जुदी बात है; परन्तु ज्ञानी को भोग भोगने की रुचि नहीं है, उन्हें विषयसुख की भावना नहीं है।

वस्तुतः ज्ञानी राग व व्यवहार का कर्ता नहीं है। निश्चय-रत्नत्रय के साथ व्यवहार रत्नत्रय भी नियम से होता ही है, परन्तु जितना भी व्यवहार है, वह सब शुभभावरूप होने से स्वयं बंध है एवं बंध का कारण है, इसलिए ज्ञानी को उस व्यवहार का रस नहीं है।

अहा! जिसे अतीन्द्रिय आनंदरस का स्वाद आया है, उसे राग में कैसे रस आ सकता है? यहाँ तो विशेष भोग की बात ली गई है, इसकारण कहा है कि हे ज्ञानी! तुझे कभी भी कर्म करना योग्य नहीं है—ऐसा कहकर उसका स्वच्छन्दीपना छुड़ाया है। जो ऐसा कहता है कि चाहे जैसा भी भोग क्यों न हो, तो भी उससे हमें क्या? वह वस्तुतः ज्ञानी ही नहीं है। ज्ञानी की ऐसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं होती। ज्ञानी को परद्रव्य के भोगने में किंचित् भी उत्साह नहीं होता, रुचि नहीं होती। उसे तो भोग रोगवत् प्रतीत होते हैं। ज्ञानी को इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती।

अहाहा....! जिसको अन्दर में सम्पूर्ण आनन्द का निधान भगवान आत्मा दृष्टिगत हो गया है, उसको इन्द्रयों के विषयों में सुख है—ऐसा कैसे भासित हो सकता है? नहीं हो सकता; क्योंकि जहाँ निराकुलतारूप सच्चा सुख है ही नहीं, वहाँ ज्ञानी को सुख कहाँ से दिखाई देगा?

कहते हैं कि "जो वस्तु तेरी नहीं है, उसे तू भोगता है—यह महाखेद है। तात्पर्य यह है कि शरीर, स्त्री-पुत्र-परिवार, पैसा, महल-मकान आदि जो प्रगट पर हैं, जो तुझमें नहीं हैं, तो भी तू उन्हे भोगता है, तो यह महाखेद की बात है; क्योंकि धर्मात्मा के तो पर में ऐसी सुखबुद्धि होती ही नहीं है।

जिसे "पर" को भोगने में रस आता हो, वह ज्ञानी हो ही नहीं सकता। वह तो मूढ़ है—स्वच्छन्दी है, धर्मी नहीं है।

अरे भाई! जितना समय बीत रहा है, उतनी ही मृत्यु नजदीक आती जा रही है; जिसने इस सुअवसर में आत्मा और पर का भेदज्ञान नहीं किया, उसका जन्म निरर्थक ही है, भले ही कोई अरबपति ही क्यों न हो और लाखों का दान भी क्यों न देता हो।

यदि किसी को ऐसा लगता है कि मैं ज्ञानी हुआ हूँ, धर्मात्मा बन गया हूँ, मुझे ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा का भान हो गया है तथा अपने चित्स्वरूप आत्मा के सिवाय परवस्तु मेरी नहीं है। फिर भी परवस्तु को भोगने में उत्साही होता है, परवस्तु के भोगने में आनन्द मानता है तो वह मूढ है, मिथ्यादृष्टि है। उसे धर्म नहीं, धर्म का भ्रम हुआ है।

यदि कोई कहेगा कि परवस्तु के भोग से बन्ध नहीं होता—ऐसा शास्त्रों (सिद्धान्त) में कहा है, इसलिए भोगता हूँ, तो इसका अर्थ यह है कि उसे स्वयं तो भोगने की इच्छा है और शास्त्र का सहारा लेता है। उससे पूछते हैं कि तू तो यह बता कि तुझे स्वयं भोगने की भावना है कि नहीं, भोगने में रुचि व उत्साह है या नहीं? उत्साह है तो तुझे बंध अवश्य है; क्योकि तू भोगने का रसिया है, तेरा चित्त भोगों से विरक्त (उदास) नहीं है। इसलिए कहते हैं कि तू तो ज्ञानरूप हो जा। अर्थात् शुद्धस्वरूप में निवास कर (ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में ही रह) ज्ञानरूप होकर बस एक शुद्धस्वरूप में ही निवास कर! घर में—कुटुम्ब में निवास मत कर। पैसा में एवं रागादि में भी मत अटक! एक मात्र चिन्मात्र वस्तु प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप में ही वास कर। देखो कैसा बढ़िया

सिद्धान्त निकला कि "स्व में बस, पर से खस, आयेगा अतीन्द्रिय आनन्द का रस, इतना करे तो बस।"

यदि तू भोगने की इच्छा करेगा अथवा यदि तू अज्ञानरूप से परिणमित होगा तो निश्चित ही तू अपने अपराध से बंधेगा। अतः तू तो स्व-स्वरूप में निवास कर। यहाँ "ध्रुव" का अर्थ "निश्चितरूप से" किया है। अर्थात् यदि तू आत्मा के आनन्द रस को छोड़कर विषयभोगों का रस लेगा तो निश्चितरूप से तुझे अपराध होगा और तू अपने उस अपराध से ही अवश्य बंधेगा। यहाँ यह नहीं कहा कि भोगोपभोग की सामग्री के कारण बंधेगा, बल्कि यह कहा है कि अपने शुद्ध चैतन्यरस को भूलकर विषयरस में—राग रस में जुड़ेगा तो वह तेरा ही अपराध है और उस अपराध से तू बंध को अवश्य प्राप्त होगा।

कलश १५१ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को पुण्य व पाप की क्रियारूप कर्म करना तो उचित ही नहीं है। दया-दान-व्रतादिरूप पुण्यक्रिया एवं हिंसा-झूठ-चोरी तथा विषयादि के परिणामरूप पाप की क्रिया करना उचित नहीं है।

देखो, भगवान आत्मा के आनन्द सिवाय जो परवस्तु शरीर, मन, वाणी, धनादि सामग्री के भोगरूप पुण्य-पाप के भाव हैं, उन्हें मैं भोगता हूँ—ऐसा जो मानता है, वह चोर है; क्योंकि पर को ग्रहण करने का परिणाम ही तो चोरी है न? अहा! भोग के राग के रस में तू अपने आनन्दस्वरूप का ही घात करता है। हे भाई! तू अब आत्मा के साथ ऐसा अन्याय क्यों करता है? इसके फल में तुझे अनन्तकाल तक के लिए निगोद की जेल होगी।

देखो, सिद्धान्त तो ऐसा ही है कि उपभोग से ज्ञानी को बंध नहीं होता; क्योंकि उसे उस बात का रस नहीं है। ज्ञानी को पुण्य के योग से भोगसामग्री हो तथा उसमें यत्किंचित् राग आ जावे तो राग की बलजोरी से वह उसे भले भोगता दिखाई दे, किन्तु उसे उसमें सुखबुद्धि नहीं है। पुरुषार्थ की मन्दता में राग का जोर है—ऐसा जानकर वह भोगता है;

परन्तु उसे भोगने की इच्छा नहीं है, सामग्री की इच्छा नहीं है। इसलिए वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा। इच्छा बिना पर की बलजोरी से उदय में आये हुए को भोगे तो उसे वहाँ बन्ध नहीं कहा।

अब कहते हैं कि यदि कोई इच्छा से भोगता है तब तो वह अपराधी हुआ न, उसे बन्ध क्यों नहीं होगा? यदि रस लेकर भोगता है, तो अवश्य ही बंध होना चाहिए, क्योंकि भोगने का रस तो अपराध है। और यदि उत्साहपूर्वक भोगसामग्री का उपभोग करता है तो बंध होगा ही; किन्तु ज्ञानी को रस नहीं है, इच्छा नहीं है। अतः वह निर्बन्ध है। जिसे आत्मा के निर्मल-निराकुलपने का रस लग गया, उसे पर का भोग जहर-सा लगता है।

अब आगे की गाथा का सूचक काव्य कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

कतारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः॥१५२॥

श्लोकार्थः- (यत् किल कर्म एव कर्तारं स्वफलेन बलात् नो योजयेत्) कर्म ही उसके कर्ता को फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फल को भोग), (फललिप्सुः एव हि कुर्वाणः कर्मणः यत् फलं प्राप्नोति)* फल की इच्छावाला ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल को पाता है; (ज्ञानं सन्) इसलिए ज्ञानरूप रहता हुआ और (तद्-अपास्त-रागरचनः) जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है—ऐसा (मुनिः) मुनि, (तत्-फल-परित्याग-एक-शीलः) कर्मफल के परित्यागरूप ही एक स्वभाववाला होने से, (कर्म कुर्वाणः अपि हि) कर्म करता हुआ भी (कर्मणा नो बध्यते) कर्म से नहीं बंधता।

---

* कर्म का फल अर्थात् (१) रंजित परिणाम अथवा (२) सुख (रंजित परिणाम) को उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग।

भावार्थः- कर्म तो बलात् कर्ता को अपने फल के साथ नहीं जोड़ता; किन्तु जो कर्म को करता हुआ उसके फल की इच्छा करता है, वही उसका फल पाता है। इसलिये जो ज्ञानरूप वर्तता है और बिना ही राग के कर्म करता है, वह मुनि कर्म से नहीं बंधता; क्योंकि उसे कर्मफल की इच्छा नहीं है।।१५२।।

कलश १५२ पर प्रवचन

देखो, पुण्य के उदय से प्राप्त सामग्री यह नहीं कहती कि तू मुझे भोग। फल की इच्छावाला ही कर्म करता हुआ कर्म के फल को प्राप्त करता है। कर्म का फल अर्थात् रंजित परिणाम, भोगने के काल में राग के रस का भाव। अहा! राग में जिसका रस है, उसे कर्म के फल को भोगने का भाव होता है। अहा! फल की जिसको इच्छा है अर्थात् भोगने के राग में जिसको रस है, वह कर्म करता हुआ कर्म के फल को प्राप्त होता है।

इसलिए ज्ञानरूप में रहते हुए अर्थात् शुद्ध चिद्घन भगवान आत्मा में रहते हुए जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर कर दी है, राग के भोगने के रस को नाश कर दिया है—ऐसा मुनि या समकिति धर्मात्मा कर्म के फल के परित्यागरूप स्वभाववाला होने से कर्म करता हुआ भी कर्म से बंधता नहीं है।

कलश टीका में "मुनि" का अर्थ शुद्धस्वरूप के अनुभव से विराजमान सम्यग्दृष्टि जीव किया है। अहाहा....! धर्मी का तो एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। शुद्ध ज्ञाता स्वभाव से रहते हुए उसके कर्म करने के प्रति व भोगने के प्रति रागरस उड़ गया है।

यहाँ कहते हैं कि अरे प्रभु! धर्मी का कर्म के फल के परित्यागरूप ही एक शीलस्वभाव है। धर्मी का तो राग के त्यागरूप ही एक स्वभाव है। उसे राग करने के प्रति व भोगने के प्रति रस ही नहीं है। इसलिए कहते हैं कि वह कर्म करता हुआ भी कर्म से बंधता नहीं है।

प्रश्नः- शास्त्रों में ऐसा भी तो आता है कि अनासक्ति से भोगना चाहिए अथवा ज्ञानी अनासक्तभाव से भोगते हैं। यह भी वही बात है न?

उत्तरः- अरे भाई! अनासक्ति का अर्थ यह नहीं है कि भोगता भी जाय और कहता भी जाय कि हमें तो जरा भी रुचि नहीं है; बल्कि अनासक्ति का अर्थ है कि भोग के प्रति रुचि ही नहीं रही है, भोगने का रस ही भंग हो गया है। उसे भोगने में जरा भी उत्साह नहीं रहा। अतः उसे तो भोगने की इच्छा ही नहीं है, तो आसक्ति से कैसे भोगे?

अहा! धर्मी को आत्मा के आनन्द के रस के आगे चक्रवर्ती के राज्य की सम्पदा का भी रस उड़ गया है। देखो, देवलोक का सौधर्मइन्द्र एकभवातारी सम्यग्दृष्टि है, यद्यपि उसके करोड़ों अप्सरायें-इन्द्राणियाँ एवं नानाप्रकार के भोगों की बाहुल्यता है, तथापि उसके उन भोगों के प्रति रुचि नहीं है, रस नहीं है, उत्साह नहीं है; क्योंकि उसके अन्दर से उन भोगों के प्रति रस उड़ गया है। इसकारण वह कर्म करते हुए भी कर्म से बंधता नहीं है, उसके तो निर्जरा ही होती है।

कलश १५२ के भावार्थ पर प्रवचन

यह निर्जरा अधिकार चलता है, अतः यहाँ निर्जरा किसे होती है —यह बात चल रही है। उस संदर्भ में कहते हैं कि "कर्म तो कर्ता को जबरदस्ती अपने फल के साथ जोड़ते नहीं हैं।" यहाँ कर्म शब्द का अर्थ क्रिया है। कर्म के उदय से मिली जो सामग्री, उसके उपभोग की जो क्रिया होती है, वह क्रिंया बलजोरी से कर्ता को अपने फल के साथ नहीं जोड़ती। क्रिया किसी से भी जबरदस्ती से यह नहीं कहती कि हे आत्मा! तू मेरे फल के साथ अपने उपयोग को जोड़, मेरे फल में राग-द्वेष कर।

परन्तु जो कर्म को करता हुआ, उपभोग की क्रिया करता हुआ उसके फल की इच्छा करता है, वही उसका फल प्राप्त करता है।

अहाहा.....! धर्मी तो अपने ज्ञानानंदस्वरूप के अनुभव में रहनेवाला है, उसे वाह्य शुभक्रिया में कोई रस (उत्साह) नहीं है, रुचि नहीं है। इसकारण उसे उसके फल की भी अपेक्षा नहीं होती।

अहाहा....। धर्मी तो "मैं ज्ञान व आनन्दस्वरूप हूँ" इसप्रकार निज स्वरूप के अनुभव में रहनेवाला है। अतः उसे क्रिया में रस नहीं है, प्रेम नहीं है। इसकारण उसे भविष्य में कर्मफल मिले ऐसी वांछा नहीं होती।

कहते हैं कि धर्मी समकिती जीव ज्ञाता-दृष्टा एवं आनन्द में रहने वाला है। वह अपने ज्ञानस्वभाव में वर्तता है, राग व राग की सामग्री की क्रिया में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। वह तो राग रहित क्रिया करता है, उसमें उसे किंचित् भी रस नहीं है, रुचि व प्रेम नहीं है। इसप्रकार राग रहित क्रिया होने से ज्ञानी कर्म से बंधते नहीं है।

जिसको चिदानन्दघन प्रभु आत्मा की प्रतीत हुई है, श्रद्धा हुई है, अनुभूति हुई है, दृष्टि हुई है और अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वाद आया है। उसके एक आनन्द की ही भावना है। उसके राग की क्रिया तो होती है, पर राग की भावना नहीं होती। "यह राग ठीक है और इसका फल मुझे मिले" ऐसी भावना ज्ञानी के होती ही नहीं है। मेरे द्वारा जो यह शुभक्रिया हो रही है, इसके फल में मुझे स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो—ऐसी भावना ज्ञानी के नहीं है।

यह निर्जरा अधिकार है न? अतः यहाँ कर्म की निर्जरा बताना है। अतः कहते हैं कि—

कर्म का झरना, अशुद्धता का नाश और शुद्धता की उत्पत्ति में वृद्धि होना। इसतरह ज्ञानी के तीन प्रकार से निर्जरा होती है।

अज्ञानी ऐसा कहता है कि काम तो करो पर अनाशक्त भाव से करो, पर उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसके इस कथन में कर्तृत्व की गंध आती है, जबकि आत्मा तो परद्रव्य का कर्ता-धर्ता है ही नहीं।

ज्ञानी के जो पर में कुछ करने-कराने का राग आता है, वह तो उसकी पुरुषार्थ की कमजोरी से आता है। वह उस क्रिया का कर्ता नहीं बनता। उसे उस कर्तृत्व में तो किंचित् भी रस नहीं है। इसी कारण उसे उस क्रिया के निमित्त से होनेवाला बन्ध नहीं होता। बल्कि पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही हो जाती है।

"ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण है"—ऐसा जो कहा है, उसका अर्थ यह है कि शेष अन्य सभी के भोग तो रागरूप होने से बंध के कारण है, पर ज्ञानी की दृष्टि का जोर स्वभाव पर है। कलश में कहा है न? कि "तत फल-परित्याग एक शीलः" अर्थात् धर्मात्मा समकिती के राग का त्याग है, इसकारण उसके उस राग के फल का भी त्याग है। ज्ञानी का ऐसा राग के त्यागस्वभावरूप स्वभाव है। इसकारण उसे राग की क्रिया में रस नहीं होने से वन्ध नहीं होता, जो राग आता है वह भी खिर जाता है, झड़ जाता है, नष्ट हो जाता है।

यहाँ इस बात पर जोर है कि ज्ञानी एकशील, एक ज्ञायकस्वभाव ज्ञानानन्दस्वभाववाला है, उसकी दृष्टि का विषय एक स्वभावमात्र है। उसके ध्यान का ध्येय एक ज्ञायकस्वभाव है।

पूर्णानन्दस्वभावी भगवान ही सम्यग्दृष्टि का ध्येय है, इसकारण उसकी दृष्टि मुख्यरूप से एक स्वभावभाव पर ही रहती है। इसकारण उसे क्रिया का राग आते हुए भी उसमें रस यानि उत्साह नहीं है। इसकारण उसके बन्धन भी नहीं है।

कहते हैं कि जिसने अपनी दृष्टि को निमित्त से, राग से व एक समय की पर्याय पर से हटाकर शुद्ध एक ज्ञायकभावरूप सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा पर लगा दी है, उसकी अन्य कहीं भी रुचि नहीं रहती। उसे भोगों का विकल्प आता है, परन्तु उसे उस विकल्प में रस नहीं है। उसे वे विकल्प जहर की भाँति लगते हैं। इसकारण उसके बंध नहीं होता। अज्ञानी को राग में मिठास आती है, उसे राग में रस है—इसकारण राग का फल वर्तमान की भाँति ही भविष्य में भी मिलेगा, ऐसी उसकी इच्छा होती है; किन्तु ज्ञानी के तो इच्छा की निर्जरा हो जाने से भविष्य में भी उसके फल में भोग प्राप्त नहीं होते।

अहा! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर ने जो यह आत्मा देखा है, वह चिन्मात्र अतीन्द्रिय वीतरागी आनन्द का कंद प्रभु है। उसमें राग नहीं है, पुण्य-पाप नहीं है। जो राग एवं पुण्य-पाप के भाव हैं, वे आस्रवतत्व हैं और भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञायकतत्व है तथा यह शरीर, कर्म आदि

अजीवतत्व हैं। इसप्रकार एक ज्ञायकभावस्वरूप भगवान आत्मा राग से—पुण्य-पाप से व शरीरादि से भिन्न है। अहाहा.....! जिनको ऐसे स्वरूप के आश्रय से भेदज्ञान प्रगट हुआ है, वे धर्मात्मा हैं, समकिती—ज्ञानी हैं।

यहाँ कहते हैं कि जिसको स्वरूप का—ज्ञानानन्दस्वभाव का आश्रय वर्तता है, उसको राग में रस नहीं है। जिसप्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसीप्रकार जिसको आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का प्रेम है, उसे राग का प्रेम नहीं है, और जिसे राग का प्रेम है उसे अपने भगवान आत्मा का प्रेम नहीं है। इसी कारण यह कहा है कि ज्ञानी के कर्म की क्रिया के फल की इच्छा नहीं है, इसकारण उसको बन्ध नहीं होता, निर्जरा ही होती है।

समयसार गाथा २२४ से २२७

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए॥२२४॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए॥२२५॥

जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाये॥२२६॥

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए॥२२७॥

अब इस अर्थ को द्रष्टांत से दृढ़ करते हैं—

ज्यों जगत में को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूप को।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुष को॥२२४॥

त्यों जीवपुरुष भी कर्मरज का सुख-अरथ सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीव को॥२२५॥

अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूप को सेवे नहीं।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग को देवे नहीं॥२२६॥

सद्दृष्टि को त्यों विषय हेतू कर्मरजसेवन नहीं।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग को देता नहीं॥२२७॥

गाथार्थः—(यथा) जैसे (इह) इस जगत में (कः अपि पुरुषः) कोई भी पुरुष (वृत्तिनिमित्तं तु) आजीविका के लिये (राजानम्) राजा की (सेवते) सेवा करता है (तद्) तो (सः राजा अपि) वह राजा भी उसे (सुखोत्पादकान्) सुख उत्पन्न करनेवाले (विविधान्) अनेक प्रकार के

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२४॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम्।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२५॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२६॥
एवमेव सम्यग्दृष्टि विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२७॥

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति, तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति। यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति, तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम्।

(भोगान्) भोग (ददाति) देता है, (एवम् एव) इसीप्रकार (जीवपुरुषः) जीवपुरुष (सुखनिमित्तम्) सुख के लिये (कर्मरजः) कर्मरज की (सेवते) सेवा करता है (तद्) तो (तत् कर्म अपि) वह कर्म भी उसे (सुखोत्पादकान्) सुख उत्पन्न करनेवाले (विविधान्) अनेक प्रकार के (भोगान्) भोग (ददाति) देता है।

(पुनः) और (यथा) जैसे (सः एव पुरुषः) वही पुरुष (वृत्तिनिमित्त) आजीविका के लिये (राजानम्) राजा की (न सेवते) सेवा नहीं करता (तद्) तो (सः राजा अपि) वह राजा भी उसे (सुखोत्पादकान्) सुख उत्पन्न करनेवाले (विविधान्) अनेक प्रकार के (भोगान्) भोग (न ददाति) नहीं देता, (एवम् एव) इसीप्रकार (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि (विषयार्थ) विषय के लिये (कर्मरजः) कर्मरज की (न सेवते) सेवा नहीं करता (तद्) इसलिये (तत् कर्म) वह कर्म भी उसे (सुखोत्पादकान्) सुख उत्पन्न करनेवाले (विविधान्) अनेक प्रकार के (भोगान्) भोग (न ददाति) नहीं देता।

टीका:- जैसे कोई पुरुष फल के लिये राजा की सेवा करता है तो वह राजा उसे फल देता है, इसीप्रकार जीव फल के लिये कर्म की सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता है। और जैसे वही पुरुष फल के

लिये राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे फल नहीं देता, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता; इसलिए वह कर्म उसे फल नही देता। यह तात्पर्य है।

भावार्थः- यहाँ एक आशय तो इसप्रकार है:—अज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा करता है; इसलिए वह कर्म उसे (वर्तमान में) रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा नहीं करता; इसलिए वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

दूसरा आशय इसप्रकार है:—अज्ञानी सुख—रागादि परिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों की अभिलाषा से व्रत,तप इत्यादि शुभकर्म करता है, इसलिए वह कर्म उसे रागादि परिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों को देता है। ज्ञानी के सम्बन्ध में इससे विपरीत समझना चाहिए।

इसप्रकार अज्ञानी फल की वांछा से कर्म करता है, इसलिए वह फल को पाता है और ज्ञानी फल की वांछा बिना ही कर्म करता है, इसलिए वह फल को प्राप्त नहीं करता।

गाथा २२४ से २२७ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

यहाँ आचार्य पूर्व गाथा के भाव को ही दृष्टान्त से समझाते हुए कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष यदि लौकिक फल की इच्छा से—धन-धान्य-जमीन-जायदाद, रुपया-पैसा प्राप्त करने की भावना से राजा की सेवा करता है तो राजा उसे फलस्वरूप धनादि वांछित वस्तु देता ही है; उसीप्रकार जो कोई पुरुष फल की वांछा से कर्म (क्रिया) करता है तो वह क्रिया भी उसे फल देती ही है। तात्पर्य यह है कि भोग की वांछा से यदि कोई पुरुष व्रत-तप, दान-पूजा-पाठादि शुभक्रियाये करता है तो उसके फल में उसे बन्ध होता ही है, तथा बन्ध होकर भोगादि संयोगों की प्राप्ति भी होती ही है।

इसी दृष्टान्त को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जैसे वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता, तो वह राजा भी उसे फल नहीं देता। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म अर्थात् क्रिया नहीं करता तो वह फल की वांछा से रहित होता है। इसकारण भविष्य में उसकी क्रिया भोगों में रंजितपरिणामरूप फल नहीं देती। ज्ञानी की क्रिया फल

की वांछा से रहितपने होती है। इसीकारण वह क्रिया भविष्य में भोगों में एकपने से रंजितपरिणाम हो ऐसा—फल नहीं देती। अहाहा.....! ज्ञानी के ऐसा कभी नहीं होता कि उसे राग में उत्साह आवे। जिसे आत्मा के आनन्द का रंग लगा है, उसे वर्तमान रागरूप क्रिया में रंग नहीं चढ़ता। इससे उसके फल में भी रंजित परिणाम नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता। "राग की क्रिया से मुझे कोई अनुकूल भोगादि फल मिलें और मैं उन्हे भोगूं—ऐसा रंजित परिणाम ज्ञानी के नहीं होता, क्योंकि उसके राग का रस—रुचि नहीं है, राग में एकत्व नहीं है, इसकारण ज्ञानी के राग के फल में होनेवाला बन्ध नहीं होता। कहा है न? कि

"भरतजी घर में ही वैरागी"।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। ऐसे भगवान आत्मा का जिसको रस लगा है, उसे चक्रवर्ती पद व इन्द्रपद में भी रस नहीं आता।

गाथा २२४ से २२७ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् राग के उपभोग के हेतु उदयागत कर्म का सेवन करता है। इसकारण वह कर्म उसे रंजित परिणाम देता है। तथा ज्ञानी—धर्मीजीव विषयसुख के लिए उदयागत कर्म का सेवन नहीं करता, इसकारण वह कर्म उसे रंजित परिणाम नहीं देता। अहा....! ज्ञानी को भगवान आत्मा आनन्दरूप लगा है एवं राग दुःखरूप लगा है, अतः उसे राग में रस नहीं आता। भाई! ऐसी सूक्ष्म और अद्‌भुत बात केवल दिगम्बर जैन धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। अहो! दिगम्बर मुनिराजों ने जंगल में बैठे-बैठे जगत के जीवों का निहाल कर दिया है।

सारांश यह है कि अज्ञानी जो व्रत, तप आदि क्रियाएँ करता है, वह फल की वांछा सहित रागरस से क्रिया में एकाकार होकर करता है, इसकारण वह फल को प्राप्त करता है। अर्थात् रंजित परिणाम को व बन्ध को प्राप्त होता है। जबकि ज्ञानी के जो व्रत, तप आदि क्रिया होती है, वह रागरस से रहित होती है, इससे उसे जो राग आता है वह खिर जाता है; किन्तु फल नहीं देता, रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

कलश—१५३

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥

अब, "जिसे फल की इच्छा नहीं है वह कर्म क्यों करे?" इस आशंका को दूर करने के लिए काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थः—(येन फलं त्यक्तं सः कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः) जिसने कर्म का फल छोड़ दिया है, वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। (किन्तु) वहाँ इतना विशेष है कि (अस्य अपि कुतः अपि किंचित् अपि तत् कर्म अवशेन आपतेत्) उसे (ज्ञानी को) भी किसी कारण से कोई ऐसा कर्म अवशता से (उसके वश बिना) आ पड़ता है। (तस्मिन् आपतिते तु) उसके आ पड़ने पर भी,(अकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितः ज्ञानी) जो अकम्प परमज्ञानस्वभाव में स्थित है ऐसा ज्ञानी (कर्म) कर्म (किं कुरुते अथ किं न कुरुते) करता है या नहीं (इति कः जानाति) यह कौन जानता है?

भावार्थः- ज्ञानी के परवशता से कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है? ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी को नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए। उनमें से,-अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहार विहार करते हुए मुनियों के बाह्य-क्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण निश्चय से वे बाह्यक्रियाकर्म के कर्ता नहीं हैं, ज्ञान के ही कर्ता हैं। अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासम्भव

कषाय के अभाव से उनके परिणाम उज्जवल हैं। उस उज्जवलता को ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्जवलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जाने?

कलश १५३ पर प्रवचन

देखो, जिसको अन्तर में ऐसी प्रतीति हुई कि मैं एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ, उसे राग में रस नहीं रहता। अर्थात् उसने राग का फल छोड़ दिया है। आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने राग का रस छोड़ दिया है, वह रागक्रिया करेगा—ऐसा हमें विश्वास ही नहीं होता।

प्रश्नः- यह ठीक है, पर अज्ञानी जगत को यह कैसे पता चलेगा कि ज्ञानी राग का कर्ता नहीं है?

उत्तरः- अरे भाई! अज्ञानी जगत को इस बात का पता न भी चले तो ज्ञानी का क्या बिगड़ता है? ज्ञानी को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं होता कि दुनियाँ उसे क्या समझती है? क्योंकि वह इस सिद्धान्त से भी भलीभाँति परिचित हे कि "ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता।" तथा अज्ञानी जगत भले न जाने, अनन्त केवलज्ञानी अरहंत व सिद्ध भगवान तो उसे ज्ञानी ही जानते हैं न? तथा कोई जाने न जाने या उल्टा माने—इससे ज्ञानी को कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। आचार्य भगवंत तो यह कहते हैं कि निजानन्द रस के रसिया ज्ञानी के राग का रस छूट गया है, अतः वह राग की क्रिया को तन्मय—एकाकार होकर करेगा—हमें तो ऐसा विश्वास ही नहीं होता।

प्रश्नः- क्या एक ज्ञानी को दूसरे ज्ञानी की पहचान हो जाती है?

उत्तरः- अन्तरंग सूक्ष्म परिणति का पता तो नहीं चलता, परन्तु उसके प्रतिपादन एवं बाह्याचरण से बहुत-कुछ ख्याल तो आ ही जाता है। बिल्कुल ही पता नहीं चलता हो—ऐसा भी नहीं है। जो व्रत, तप, भक्ति आदि क्रियायें उसके होती हैं, वह तो मात्र उस क्रियाओं का ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्ता नहीं।

ज्ञानी के वर्तमान क्रिया में रस नहीं रहा और आगामी क्रिया की वांछा नहीं है, इसकारण यद्यपि वह क्रिया करते हुए दिखाई देता है, तथापि क्रिया का कर्ता नहीं है। अतः उसकी यह उदासीनता ज्ञानी से छिपी नहीं रहती। उसके ख्याल में स्पष्ट भासित हो जाता है कि अमुक ज्ञानी है, क्योंकि उसे क्रिया में कोई रस (उत्साह) नहीं है।

ज्ञानी की दृष्टि में तो ऐसा ही भासित होता है कि ज्ञानी तो केवल ज्ञाता-दृष्टा ही है, वह पर की क्रिया का कर्ता-भोक्ता नहीं है। अहाहा....! उसके जो व्रत, तप आदि क्रिया होती है, वह उसका केवल ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। निजानन्द रस में लीन रहनेवाला ज्ञानी क्रिया का कर्ता नहीं है, केवल ज्ञाता ही है। तथा जो राग के रस में लीन है, वह-राग की क्रिया का करनेवाला—कर्ता है, उसे ज्ञातारूप परिणमन नहीं है। जिसे राग की क्रिया में रस है, उसे तो धर्म है ही नहीं।

यद्यपि आत्मज्ञानी को साधुओं के व्यवहार एवं तत्वोपदेश की शैली से यह ख्याल में आ जाता है कि अमुक साधु को अंतरंग में निश्चयधर्म नहीं है, तथापि बाहर में आचरण बराबर आगमानुसार होता है तो वह प्रगट नहीं करता है। तथा वहाँ दूसरी बात यह भी कही है कि धर्मी को खबर पड़ जाती है कि इसको निश्चयधर्म नहीं है, पर बाह्य-आचरण, प्ररूपणा आदि यथार्थ है तो वह उसकी वंदनादि विनय भी करता है; जो बाहर से आचरण में आगमानुसार मुनि का निर्दोष आचरण करते हैं, समकिती उन्हें आचरण में अपने से बड़ा मानकर उनकी वंदना करते हैं; किन्तु यदि बाह्य-आचरण बराबर न हो तो समकिती उसे वन्दनादि नहीं करते, तटस्थ रहते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठवें अधिकार में दृष्टान्त दिया है कि वर्षायोग में या चातुर्मास में कोई चारणरिद्धिधारी मुनिवर नगर में आये तो श्रावकों को शंका हुई कि यहाँ तो यह मुनि थे ही नहीं, ये वर्षाकाल में नये मुनि कहाँ से कैसे आये? बस, इसीकारण परीक्षाप्रधानी श्रावकों ने उन्हें सच्चा मुनि नहीं माना और आहार हेतु पड़गाहन नहीं किया, जबकि मुनिराज तो रिद्धि के बल से आकाशमार्ग से आये थे और सच्चे भावलिंगी साधु थे। इससे स्पष्ट है कि समकिती प्रत्यक्ष भ्रष्ट

शिथिलाचारी मुनि की वंदनादि विनय नहीं करता। नवधाभक्ति से आहारादि नहीं देता।

अहा! धर्मी ने राग व राग के फल को छोड़ दिया है और अज्ञानी राग व राग के फल की वांछा करता है। इसप्रकार दोनों में भारी भेद है।

अब कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानी के रागादि की इच्छा नहीं है तथापि अवशपने से उसके राग आ जाता है। यहाँ "अवश" का अर्थ यह है कि कर्मोदय के निमित्त से एवं अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कदाचित् ज्ञानी के भी राग उत्पन्न होता है; पर ज्ञानी अपने अकम्प ज्ञानस्वभाव में ही स्थित रहते हैं, राग में स्थित नहीं होते; क्योंकि राग तो उन्हें जहर के समान लगता है, उन्हें राग में रस नहीं है।

जिसके राग की कर्ताबुद्धि टूट गई, भोक्ताबुद्धि छूट गई है और स्वामित्व का भाव भी समाप्त हो गया है, वह कर्म करता है कि नहीं करता–इसे अज्ञानी क्या जाने? अज्ञानी ज्ञानी के हृदय को पहचान ही नहीं सकता। मात्र ज्ञानी ही ज्ञानी को, उसकी भावनाओं को एवं उसकी यथार्थ श्रद्धा की झलक को पहचान सकता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी ही ज्ञानी के अन्तर को पहचान पाते हैं, अज्ञानी नहीं। वह जानता है कि ज्ञानी राग का कर्ता-भोक्ता नहीं, मात्र ज्ञाता है।

नाटक समयसार में कहा है कि–

"करै करम सोई करतारा, जो जाने सो जाननहारा।
जो कर्ता नहीं जाने सोई; जानै सो कर्ता नहिं होई॥"

आचार्य कहते हैं कि जिसका राग में से रस उठ गया है और अतीन्द्रिय आनन्द के धाम आत्माप्रभु का रस लग गया है, वह क्रिया करता है या नहीं करता, इस बात की अज्ञानी को क्या खबर? हम जानते हैं कि वह कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है। अज्ञानी की तो संयोगी दृष्टि है, अतः वह बाहर के संयोग देखकर कर्ता-अकर्ता का निर्णय करता है और उसे ज्ञानी भी संयोगों के बीच दिखाई देता है; अतः ऐसा मानता

है कि वह पर का कर्ता है। जबकि ज्ञानी संयोगों में रहता हुआ भी संयोग से दूर रहता है।

वास्तविक बात यह है कि ज्ञानी रागादि करता ही नहीं है उसे रागादि होते हैं, पर वह उस राग का कर्ता नहीं है, ज्ञाता ही है; क्योंकि उसने तो राग एवं राग के फल को छोड़ ही दिया है।

यहाँ कहते हैं कि अकम्प परम ज्ञानस्वभाव में स्थित ज्ञानी राग की क्रिया करता है कि नहीं करता—यह कौन जाने? अर्थात् अज्ञानी को यह खबर नहीं पड़ती कि ज्ञानी राग की क्रिया करते ही नहीं हैं, ज्ञाता ही हैं। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य सहित अपरिमित स्वभाववाली वस्तु है। अहाहा....! अपने स्वभाव की सामर्थ्य ही ऐसी है कि वह स्व-पर को सम्पूर्णतया जानता है।

प्रश्नः- परमज्ञान में स्थित धर्मी को भी राग तो होता है न? ज्ञानी राग करता हुआ स्पष्ट दिखाई भी देता है।

उत्तरः- अरे भाई! अज्ञानी को क्या पता कि ज्ञानी राग करता है या नहीं? वह तो बाहर-बाहर से देखता है। ज्ञानी के राग की क्रिया दिखाई देते हुए भी वह उस राग की क्रिया का कर्ता नहीं है—ऐसा हमें प्रतिभासित हो रहा है; क्योंकि आत्मा तो केवल ज्ञाता-दृष्टा है, वह जानता तो सबकुछ है और करता कुछ भी नहीं।

कलश १५३ के भावार्थ पर प्रवचन

अहाहा....! जिसे शुद्ध ज्ञान व आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा का अन्तर्मुखाकार अनुभव व वेदन हुआ है, वह ज्ञानी है। यहाँ कहते हैं कि ऐसे ज्ञानी को परवश से अर्थात् पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कर्म हो जाते हैं। कहते हैं कि ज्ञानी के कर्म की इच्छा नहीं है, रुचि नहीं है, तो भी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कर्म अर्थात् राग की क्रिया हो जाती है तो भी ज्ञानी ज्ञान से चलायमान नहीं होता। अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होता।

यह निर्जरा अधिकार है न? अतः कहते हैं कि यह जो ज्ञान व आनन्दस्वरूप आत्मा है, वह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। मेरा ही यह

परिचय है—ऐसा जिसको अपने अन्तरात्मा में दृढ़श्रद्धान हुआ है, उसे कदाचित् राग की क्रिया हो भी जाय तो भी वह अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता अर्थात् वह अपने ज्ञान के अनुभव से च्युत होकर राग में एकाकार-एकरूप नहीं होता। जिसकी ज्ञान से एकता हो गई है, वह अब राग से एकता नहीं करता। उसको निर्जरा होती है, जो राग उत्पन्न होता है, वह निर्जर जाता है।

कहते हैं कि सदैव ज्ञाता-दृष्टास्वभावी एक अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा का जिसे वेदन हुआ है, उसे कदाचित् रागांश आ भी जाय तो भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। अर्थात् वह ज्ञान की एकाग्रता छोड़कर राग में एकाग्र नहीं होता, राग में एकत्व नहीं करता।

इसलिए ज्ञान से अचलित ज्ञानी वस्तुतः कर्म करता ही नहीं है, उसके राग होता तो है; परन्तु उसकी दृष्टि स्वरूप में एकाग्र हो गई है, अतः कर्म नहीं करता, फिर भी अज्ञानी को वह कर्म करता हुआ दिखाई देता है; क्योंकि अज्ञानी की नजर बाह्यक्रिया पर है न? ज्ञानी की बात तो ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी को क्या पता? ज्ञानी जानता है कि ज्ञानी तो सदा ज्ञाता हीं है। ज्ञानी के परिणाम को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी में नहीं है।

देखो, यद्यपि अज्ञानी जीव भोग की सामग्री को बाहर से भोगता हुआ न भी दिखे, तो भी उसे भोगसामग्री के प्रति बनते हुए राग में मिठास है, अतः भोगसामग्री को न भोगते हुए भी वह उनका भोक्ता है। पहले १९७वी. गाथा में भी आया है कि अज्ञानी असेवक होते हुए भी सेवक है।

प्रश्नः- ज्ञानी के किस गुणस्थान से राग का अभाव हो जाता है?

उत्तरः- चतुर्थ गुणस्थान में राग के प्रति एकत्वबुद्धि का अभाव हो जाता है, अतः ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी के राग है ही नहीं। यह बात नीचे भावार्थ में भी है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सभी ज्ञानी हैं। अहाहा.....! आत्मा का स्पर्श होते ही जीव की राग में व भोगों में रुचि टूट जाती है, सुखबुद्धि उड़ जाती है। ज्ञानी को आत्मा के आनन्द के स्वाद के आगे राग का व भोग का स्वाद जहर जैसा भासित होता है।

जो किंचित् अस्थिरता का राग है, उसका स्वाद ज्ञानी को जहर जैसा लगता है; अतः उसकी निर्जरा हो जाती है और नवीन आस्रव नहीं होता। तथा अज्ञानी उपवासादि क्रिया करके अपने को धर्मात्मा—तपस्वी मानकर बैठ जाता है, वह समझता है कि इससे मुझे निर्जरा होगी व धर्म की प्राप्ति हो जावेगी; परन्तु भाई! राग की क्रिया से निर्जरा नहीं, उल्टा बंध ही होता है।

अब कहते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सब ज्ञानी ही हैं। उनमें अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहार-विहार करते हुए मुनियों को बाह्यक्रिया-कर्म की प्रवृत्ति होती है, तो भी ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण निश्चय से वे बाह्यक्रिया कर्म के कर्ता नहीं हैं, ज्ञान के ही कर्ता हैं; क्योंकि वे ज्ञानस्वभाव में ही अचलित हैं। वे शुद्ध चैतन्य के अनुभव से चलित नहीं होते। रागादि क्रिया होती है, तो भी वे ज्ञान के अनुभव से खिसकते नहीं हैं। इसलिए वे राग के कर्ता नहीं हैं, किन्तु ज्ञान के ही कर्ता हैं। अहाहा....! धर्मी तो आत्मा की ज्ञानमय वीतरागी परिणति के ही कर्ता हैं।

अब विशेष कहते हैं कि देखो, जिसने अन्दर में अपने भगवान आत्मा को भली-भाँति देखा-जाना है, उसके अन्तरंग में मिथ्यात्व का अभाव हो गया है—भ्रान्ति का अभाव हो गया है। उसके अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से परिणाम निर्मल हैं, उज्जवल हैं। तथा आगे-आगे के पांचवे-छठवे आदि गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानादि कषायों का ज्यों-ज्यों अभाव होता जाता है, त्यों-त्यों परिणाम विशेष उज्जवल—निर्मल होते जाते हैं।

प्रश्नः- क्या चौबीसों घण्टे—दिन-रात निर्मलपरिणाम रहते हैं?

उत्तरः- हाँ, जितने-जितने प्रमाण में कषाय का अभाव हुआ है उतने-उतने प्रमाण में सदा ही परिणाम निर्मल रहते हैं। उदाहरणार्थ एक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव लड़ाई में युद्ध कर रहा हो तो भी उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव होने से उतनी मात्रा में उसके परिणाम निर्मल ही हैं। उस उज्जवलता को ज्ञानी ही जानता है। मिथ्यादृष्टि को उस उज्जवलता की पहचान नहीं हो सकती।

मिथ्यादृष्टि भले ही बाहर में मुनि जैसे मन्द कषायरूप आचरण में तथा सम्यग्दृष्टि भले ही युद्धभूमि में युद्धरत हो तो उस मुनिचर्या जैसे मंदकषायरूप आचरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि से युद्धरत सम्यग्दृष्टि का परिणाम उज्जवल है, निर्मल है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि ने अपनी श्रद्धा पलट ली है, मान्यता सही कर ली है, उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हो गया है, अतः वह राग के पक्ष से हटकर ज्ञान के पक्ष में आ गया है। उसकी दृष्टि पर से हटकर स्वयं में आ गई है।

यह बात प्रवचनसार गाथा २३६ में भी आ गई है। वहाँ कहा है कि काया और कषाय को अपना माननेवाला भले ही बाहर में पांच स्थावर व एक त्रस—इसप्रकार छहकाय की हिंसा भले न करता हो तो भी हिंसक ही है। भगवान आत्मा स्वभाव से काया व कषायरहित—अकषायी है। ऐसे स्वभाव को छोड़कर यदि काया व कषाय को अपना माने तो वह बाह्य में भले ही नग्न दिगम्बर साधु क्यों न हो ? तो भी वह हिंसा का करनेवाला एवं आत्मघाती ही है। धर्मीजीव के तो ज्ञान व आनन्द के अन्तर की निर्मलता से परिणाम निरन्तर उज्जवल रहते हैं।

अरे भाई! लोक में कहावत है न? "पकड़-पकड़ में फेर होता है।" बिल्ली चूहे को भी अपने मुँह से ही पकड़ती है और अपने बच्चे को भी उसी मुँह से पकड़ती है, पर अपने बच्चे को तो उसके दाँत की खरोच भी नहीं आती और चूहा के पकड़ते ही उसके प्राण पखेरु उड़ जाते हैं। क्योंकि "पकड़-पकड़ में फेर है।"

व्यवहार में तो पकड़ एक जैसी ही लगे, परन्तु दोनों की पकड़ में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक में हिंसा का भाव अर्थात् मारकर खाने का राग है तथा दूसरे में रक्षा का भाव है। उसीप्रकार ज्ञानी के जीवन में बाहर से राग दिखाई देता है, पर उसके राग की पकड़ नहीं है, जबकि अज्ञानी के राग भी है और राग की पकड़ भी है। यही दोनों में बड़ा भारी अन्तर है।

अहाहा....! कहते हैं कि अंतरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासंभव कषाय के अभाव से उसके परिणाम उज्जवल हैं, उस उज्जवलता को ज्ञानी ही जानता है, मिथ्यादृष्टि उस उज्जवलता को नहीं जानता; क्योंकि मिथ्यादृष्टि की दृष्टि तो बाहर है, बाहर की क्रिया पर है। वह बाहर की क्रिया से धर्म का माप करता है। यदि कोई

अज्ञानी बाह्य में निपुण हो तो वह उसे ज्ञानी मान लेता है तथा यदि किसी ज्ञानी के जरा भी भोगादि की क्रिया देखने में आवे तो वह उसे अज्ञानी मान लेता है। इसप्रकार अज्ञानी ज्ञानी के अंतरंग की उज्जवलता को नहीं जानता।

अहाहा....। कहते हैं कि अंतरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासंभव कषाय के अभाव से ज्ञानी का परिणाम उज्जवल है। उस उज्जवलता को ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्जवलता को नहीं पहचानते; क्योंकि मिथ्यादृष्टि की दृष्टि तो बाह्य व्यवहार पर ही रहती है। वह बाह्यक्रिया से ही धर्मी का माप करता है। स्वयं की उज्जवलता के बिना वह दूसरे की उज्जवलता को कैसे जान सकता है? नहीं जान सकता। यह तो सम्यग्दर्शन की ही कोई अचिन्त्य महिमा है कि सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानियों के अंतरंग की उज्जवलता को पहचानते हैं।

अब कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा है, बाहर से ही वह भला-बुरा मानता है। अन्तरात्मा की गति बहिरात्मा क्या जाने?

बहिरात्मा का अंतरंग में प्रवेश ही नहीं हुआ, वह तो बाहर-बाहर ही देखता है, इसकारण वह ज्ञानी के अंतरंग को क्या जाने? देखो न! अज्ञानी भले बालब्रह्मचारी हो, तो भी उसे राग में ही एकताबुद्धि है तथा ज्ञानी के ९६ हजार स्त्रियां हों तो भी उसके राग की एकताबुद्धि नहीं है। इस अन्तर को अज्ञानी कैसे जान सकता है? नहीं जान सकता। बालब्रह्मचारी होते हुए भी स्वयं अज्ञानी शुद्धता का स्वामी नहीं है और ज्ञानी ९६ हजार स्त्रियों का पति होते हुए भी मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से उत्पन्न शुद्धता का स्वामी है।

मिश्रपना ज्ञानी के ही होता है; क्योंकि जहाँ साधकपना होता है, वहीं किंचित् बाधकपना भी होता है। ऐसा होते हुए भी ज्ञानी उस बाधकपने का स्वामी नहीं है, क्योंकि उसका राग में से—बाधकता में से रस उड़ गया है। अहा! इन्द्र के इन्द्रासन में भी अब उसके सुखबुद्धि नहीं है। इन्द्र करोड़ों अप्सराओं के साथ रमता दिखता है तो भी उनमें सुखबुद्धि नहीं है। तथा अज्ञानी भले ब्रह्मचारी हो या साधु हो तो भी उसे राग में रस विद्यमान है, पर में सुखबुद्धि है।

कलश-१५४

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि॥१५४॥

अब, इसी अर्थ का समर्थक और आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:—

श्लोकार्थ:- (यत् भय-चलत्-त्रैलोक्य-मुक्त-अध्वनि वज्रे पतति अपि) जिसके भय से चलायमान होते हुये (खलबलाते हुये) तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं—ऐसा वज्रपात हो पर भी, (अमी) ये सम्यग्दृष्टि जीव, (निसर्ग-निर्भयतया) स्वभावतः निर्भय होने से, (सर्वाम् एव शंकां विहाय) समस्त शंका को छोड़कर, (स्वयं अवध्य-बोध-वपुषं जानन्तः) स्वयं अपने को (आत्मा को) जिसका ज्ञानरूपी शरीर अबध्य है ऐसा जानते हुए, (बोधात् च्यवन्ते न हि) ज्ञान से च्युत नहीं होते। (इदं परं साहसम् सम्यग्दृष्टयः एव कर्तुं क्षमन्ते)—ऐसा परम साहस करने के लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।

भावार्थ:- सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकित गुणयुक्त होते हैं, इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। 'जिसके भय से तीनों लोक के जीव काँप उठते हैं—चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं'—ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जायेगा; यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है, क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है॥१५४॥

कलश १५४ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

निर्भयस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव हो जाने से सम्यग्दृष्टि स्वभावतः ही निर्भय हो जाता है, उसे किसी तरह का भय नहीं रहता। वह जानता है कि ज्ञानशरीरी भगवान आत्मा का बध कौन कर सकता है? वह तो अबध्य है?

औदयिक देह, कार्माण शरीर व रागादि कोई भी आत्मा नहीं है। यह शरीर-मन-वाणी-कर्म कोई भी आत्मा नहीं है। एकसमय की शुद्ध निर्मलपर्याय भी आत्मा नहीं है। आत्मा तो ज्ञानशरीरी है। उसे कोई नहीं मार सकता। अतः उसे मृत्युभय नहीं होता।

अहा! अनन्तज्ञान व आनन्दरूप लक्ष्मी का भंडार प्रभु आत्मा अनुभव में आने पर वर्तमान कमज़ोरी के कारण ज्ञानी को किंचित् राग हो भी जावे तो भी ज्ञानी स्वरूप लक्ष्मी के अनुभव से भ्रष्ट नहीं होता। जो राग की क्रिया उसमें होती है, वह तो उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है।

अहाहा.....! भले ऐसा वज्रपात हो या अग्नि की वर्षा हो कि जिससे जगत के अज्ञानी प्राणियों में खलबली मच जावे, हड़कम्प होने लगे, वे भयभीत होकर अपना मार्ग छोड़ दें, तो भी ज्ञानी आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान व आनन्द स्वभाव से भ्रष्ट नहीं होते, घबराते नहीं हैं; निर्भय व निःशंक रहते हैं। जहाँ यह श्रद्धा में आया कि "मैं त्रिकाल सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान हूँ" फिर वह कभी भी उससे विचलित नहीं होता। इसकारण उसके कर्मों की व राग की निर्जरा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि निःशंकित गुणसहित होता है, इसलिए वह निर्भय होता है। यहाँ शंका का अर्थ भय है। सम्यग्दृष्टि निःशंक होता है, इसका अर्थ है कि वह निर्भय होता है। ज्ञानी शुभाशुभ कर्मों के उदय के समय भी ज्ञानरूप ही रहता है। शुभ कर्मोदय में—अत्यधिक अनुकूलता में तथा अशुभ कर्मोदय में सातवें नरक जैसी प्रतिकूलता के समय भी ज्ञानी तो ज्ञानरूप ही परिणमता है। वह ज्ञान से च्युत नहीं होता। वह अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

ज्ञानी के तो ऐसा दृढ़विश्वास व निर्णय हो गया है कि "मैं तो ज्ञायक हूँ। त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभाव ही मेरा शरीर है। इस साता-असाता के उदय से मिली देहादि सामग्री मैं नहीं हूँ। वह मुझमें नहीं और मैं उसमें नहीं हूँ।" ऐसा निःशंक हुआ ज्ञानी ज्ञान से—अपने स्वरूप के अनुभव से च्युत नहीं होता। इस कारण उसके कर्मों की निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं होता।

असाताकर्म के उदय के कारण शरीर में कितने ही रोग क्यों न हो, सातवें नरक के नारकी को जन्म से ही शरीर में सोलह-सोलह रोग होते हैं और वहाँ की मिट्टी इतनी ठंडी है कि उसका एक कण भी यहाँ आ जाये तो दस हजार योजन के मनुष्य ठंड से मर जायें। अहा...! ऐसे ठंड के संयोग में ज्ञानी सम्यग्दृष्टि नारकी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता।

प्रश्नः- क्या वह मिट्टी यहाँ आ सकती है?

उत्तरः- आने न आने की बात नहीं है। यह तो केवल वहाँ की सर्दी-गर्मी को समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है।

इसीतरह प्रथम नरक की गर्मी को समझाने के लिए भी दृष्टान्त दिया है कि पहले नरक में इतनी गर्मी है कि वहाँ कि मिट्टी का एक कण भी यहाँ आ जावे तो दस हजार योजन के मनुष्य उस गर्मी से जलकर मर जायेगें।

ऐसी गर्मी व सर्दी इस जीव ने अज्ञानवश अनन्तबार सही है। वहाँ समकिती भी होते हैं। सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक का जीव भी अभी पहले नरक में है। ऐसे प्रतिकूल संयोग में भी वह अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होता। इसीकारण वह प्रतिक्षण तीर्थंकर नामकर्म का बंध करता रहता है। वहाँ से निकलकर वह तीर्थंकर परमात्मा बनेगा। ऐसे पीड़ाकारी संयोग में भी वह आनन्दरस का अमृत घूंट पिया करता है, कहा भी है—

"चिन्मूरत दृगधारी की मोहि रीति लगत है अटा-पटी।
बाहर नारकिकृत दुःख भोगे अन्तर समरस गटागटी॥"

अहा.....! ज्ञानी आनन्द के रसमृत को गटागट पीता है। नरक की पीड़ा के संयोग में भी आत्मजनित रस को गटागट पीता है; क्योंकि ज्ञानी के बाहर के संयोगों में एकत्व नहीं है। संयोग व संयोगीभावों से भेदज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष बाह्य में नरकों की पीड़ा में रहते हुए भी अपने अन्दर के निराकुल आनन्द का ही वेदन करता है।

यद्यपि जितना राग है, उतना दुःख भी है; तथापि अन्तर में आत्मज्ञान होने से तथा अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव होने से ज्ञानी को अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन विशेष है।

अरे! सम्यग्दृष्टि शुभाशुभ कर्म के उदय में रचता-पचता नहीं है। उसे शुभाशुभ कर्मों में अब एकत्व नहीं रहा। वह अब उदय के साथ एक-मेक नहीं होता। वह तो निरंतर ज्ञानरूप परिणमन ही करता है। पुण्योदय से भले ही उसे चक्रवर्ती की सम्पदा भी मिल जावे तो भी वह उसमें भरमाता नहीं है, उसमें तन्मय नहीं होता, उसमें ललचाता नहीं है, हर्षित नहीं होता। तथा अशुभ के उदय के कारण नरक जैसे पीड़ाकारक संयोगों का ढ़ेर भी हो, तो भी वह उससे खेद-खिन्न नहीं होता। सम्पूर्ण जगत जहाँ चकित हो जावे, ऐसे संयोगों में भी समकिती ज्ञानरूप ही रहता है, ज्ञानभाव में अचलितरूप से स्थिर रहता है।

अहा! सम्यग्दृष्टि की ऐसी कोई अचिन्त्य अलौकिक महिमा है। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जायेगा। पर्याय का विनाश होना कोई नई बात नहीं है, वह तो विनाशशील ही है। उसका तो उत्पाद-विनाश स्वभाव ही है। उसका नाश हो तो उससे मुझे क्या? मैं तो त्रिकाल शुद्ध, अविनाशी ज्ञायकतत्त्व हूँ, मेरा कभी नाश होता ही नहीं है। ऐसी श्रद्धा के कारण ज्ञानी सदा निःशक—निर्भय रहता है।

समयसार गाथा २२८

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥२२८॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः॥२२८॥

येन नित्यमेव सम्यद्गग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः संतोऽत्यंत-कर्मनिरपेक्षतया वर्तंते, तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यंते।

अब इस अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैंः—

सम्यक्ति जीव होते निःशंकित इसहि से निर्भय रहें।
हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक हैं॥२२८॥

गाथार्थः- (सम्यग्दृष्टयः जीवाः) सम्यग्दृष्टि जीव (निश्शंकाः भवंति) निःशंक होते हैं, (तेन) इसलिये (निर्भयाः) निर्भय होते हैं (तु) और (यस्मात्) क्योंकि वे (सप्तभयविप्रमुक्ताः) सप्तभयों से रहित होते हैं (तस्मात्) इसलिये (निःशंकाः) निःशंक होते हैं (अडोल होते हैं)।

टीकाः- क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं, इसलिए वे कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिए वास्तव में वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चयवाले होने से अत्यन्त निर्भय हैं—ऐसी सम्भावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है)।

गाथा २२८ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य व पाप आदि सम्पूर्ण कर्मों के फल के प्रति निरभिलाषी होते हैं। जिसतरह पाप के फल के प्रति अरुचिवंत होते हैं, पाप के फल को नहीं भोगना चाहते; उसीतरह पुण्य के फल में भी उन्हें

रुचि नहीं होती। पुण्यफल से तात्पर्य है पुण्योदय से प्राप्त भोगोपभोग सामग्री के प्रति सम्यग्दृष्टि निरभिलाषी होते हैं।

सम्पूर्ण कर्मफल के प्रति निरभिलाषी होने से ज्ञानी कर्मों के प्रति भी अत्यन्त निर्पेक्षभाव से प्रवर्तन करते हैं। इससे वे अत्यन्त निःशंक व निर्भय रहते हैं। अहाहा....। जिसको त्रिकाली शुद्ध शाश्वत चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का भान हो गया है, वेदन हो गया है, वह अत्यन्त निःशंक एवं निर्भय हो जाता है; क्योंकि वह ऐसा सोचता है कि "इस शरीर का स्वभाव भी नाशवान है। अतः यह तो नाश को प्राप्त होगा ही, तथा मैं इस शरीर से सर्वथा भिन्न अनादि अनंत- ध्रुवतत्व हूँ। इसके नष्ट-भ्रष्ट होने से मेरी अर्थात् आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती।

बस, इसी दृढश्रद्धा के बल पर ज्ञानी निशंक एवं निर्भय रहते हैं। अहाहा....। त्रिकाली शुद्ध शाश्वत चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का जिसे अनुभव हुआ, वह अत्यन्त निःशंक और निर्भय है।

अब सात भयों के कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उसमें से पहले इहलोक और परलोक के भयों का एक काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विवक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५५॥

श्लोकार्थः—(एषः) यह चित्स्वरूप लोक ही (विविक्तामनः) भिन्न आत्मा का (पर से भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्मा का (शाश्वतः एकः सकल-व्यक्तः लोकः) शाश्वत, एक और सकलव्यक्त (सर्वकाल में प्रगट) लोक है; (यत्) क्योंकि (केवलम् चित्-लोकं) मात्र चित्स्वरूप लोक को (अयं स्वयमेव एककः लोकयति) यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, (तद्-अपरः) उससे भिन्न दूसरा कोई लोक—(अयं लोकः अपरः) यह लोक

या परलोक (तव न) तेरा नहीं है—ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, (तस्य तद्भीः कुतः अस्ति) इसलिए ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो? (सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति) वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का (अपने ज्ञानस्वभाव का) सदा अनुभव करता है।

भावार्थः- 'इस भव में जीवन पर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं? ऐसी चिन्ता रहना इहलोक का भय है। 'परभव में मेरा क्या होगा?' ऐसी चिन्ता का रहना परलोक का भय है। ज्ञानी जानता है कि यह चैतन्य ही मेरा एक नित्य लोक है, जो कि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसी के बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी के इस लोक का अथवा परलोक का भय कहाँ से हो? कभी नहीं हो सकता वह तो अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।।१५५।।

कलश १५५ पर प्रवचन

देखो, यहाँ "एष" कहकर उस चित्स्वरूप ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा की ओर संकेत किया है, जो ज्ञानी के ज्ञान में प्रत्यक्ष भासित हुआ है। ज्ञानी कहते हैं कि वह चित्स्वभावी भगवान आत्मा ही हमारा लोक है। वह चित्स्वरूप लोक ही पर से भिन्नपने परिणमता हुआ आत्मा का शाश्वत, एक, सकल व्यक्त लोक है।

अहाहा....! मेरा तो शाश्वत, एक व सकल प्रगट—व्यक्त लोक है—ऐसा धर्मी जानता है। आत्मा को जो अव्यक्त कहा है, वह तो पर्याय की अपेक्षा से कहा है स्वभाव से तो आत्मवस्तु व्यक्त ही है। ४९वीं गाथा में ६ बोल आये हैं। वहाँ अव्यक्त के ६ बोलों द्वारा आत्मा को अव्यक्त सिद्ध किया है। वहाँ बिल्कुल जुदी अपेक्षा है। यहाँ तो वस्तुस्वरूप की दृष्टि से भगवान आत्मा को व्यक्त कहा है; सकल व्यक्त है ऐसा कहा है न? अहाहा....! मेरा लोक शाश्वत है, एकरूप है तथा सकलप्रगट है। यह ध्रुव नित्यानन्द प्रभु आत्मा सकलव्यक्त—सदाप्रगट है।

देखो, यह है धर्मी की दृष्टि! यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ४९वीं गाथा में जो अव्यक्त के ६ बोल कहे हैं, वे इसप्रकार हैं—

१. छह द्रव्यरूप लोक ज्ञेय है, व्यक्त है, उससे भगवान आत्मा भिन्न है—अन्य है, अतः अव्यक्त है। छह द्रव्य व्यक्त हैं, उससे भिन्न होने की अपेक्षा से भगवान आत्मा को अव्यक्त कहा है; परन्तु अपनी अपेक्षा से तो भगवान आत्मा व्यक्त—प्रगट ही है।

२. कषाय के समूहरूप जो भावक भाव व्यक्त है, उससे भगवान आत्मा भिन्न है, अतः अव्यक्त है।

३. चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ है, इसलिए आत्मा अव्यक्त है।

४. क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं है, इसलिए अव्यक्त है।

५. व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।

६. स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है, इसलिए अव्यक्त है।

अहाहा....! पूर्णानन्द स्वरूप प्रभु आत्मा को वहाँ ४९वीं गाथा में अव्यक्त कहा है, उसे ही यहाँ व्यक्त कहा है; परन्तु दोनों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं।

प्रश्नः- तो क्या वह भगवान आत्मा पूर्ण प्रगट है?

समाधानः- हाँ, वह पूर्ण प्रगट है; क्योंकि वह वस्तु है। भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब ज्ञान व आनन्द का धाम त्रिकाल एक वस्तु है। उसमें अनंतशक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति में—गुणों में अपरिमित अनन्त-अनन्त सामर्थ्य है। ऐसा बज्रमय भगवान आत्मा एकरूप ध्रुववस्तु है, किसी से परिणमित नहीं होता। उसे यहाँ सकलव्यक्त कहा है; क्योंकि वह ज्ञानी के ज्ञान में प्रत्यक्ष व्यक्त है न? बस, इसी अपेक्षा उसे

सकलव्यक्त कहा है, ४९वी. गाथा की अपेक्षा जुदी है। जहाँ जिस अपेक्षा कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

अब कहते हैं कि ज्ञानी ऐसा अनुभव करते हैं कि "यह चितस्वरूप लोक ही मेरा लोक है।" इससे अन्य कोई इहलोक या परलोक मेरा नहीं है। ज्ञानी अपने शुद्ध चित्स्वरूप लोक के सिवाय त्रिकाली भगवान आत्मा के सिवाय इहलोक या परलोक सम्बन्धी चिन्ता को अपना स्वरूप नहीं मानता। इसकारण ज्ञानी को इहलोक व परलोक का भय कहाँ से हो? वह तो निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ अपने सहज ज्ञानस्वभाव को सदैव अनुभवता है, सहज शुद्ध आत्मस्वभाव का ही निरन्तर अनुभव करता है।

कलश १५५ के भावार्थ पर प्रवचन

इस भव में जीवनपर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं? —ऐसी चिन्ता को इहलोकभय कहते हैं। जबतक यह जीवन है तबतक सम्पूर्ण सुख-सुविधायें रहेंगी या नहीं, धन-धान्य, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब एवं यश-प्रतिष्ठा आदि यथावत् रहेंगे या नहीं;—ऐसी चिन्ता अज्ञानी को निरन्तर रहा करती है। यह शरीर की निरोगता व सुखद सामग्री, गाड़ी-वाड़ी-लाड़ी यथावत् रहेगी या नहीं—यह चिन्ता ही इहलोकभय है।

अहा! यदि कोई बीमारी आ गई तो? कुटुम्ब का वियोग हो गया तो? आजीविका से भ्रष्ट हो गया तो फिर क्या होगा?—ऐसी अनेक प्रकार की चिन्ता का होना—बना रहना इहलोकभय है।

यह भय ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) को नहीं होता; क्योंकि वह ऐसा जानता है, मानता है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी नित्य चिदानन्द चैतन्य धातुमय आत्मा हूँ और यही मेरा लोक है। इसके सिवाय अन्य कोई मेरा लोक नहीं है। बस यही चिन्तन—विचार उसे इहभव के भय से मुक्त रखता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञानी के जीवनपर्यन्त कोई प्रतिकूलता आती ही नहीं है। प्रतिकूलताएँ आती हैं, पर वह उन्हें अपना स्वभाव नहीं मानता, अपना लोक नहीं मानता। अतः उसको इहलोकभय नहीं होता।

"परभव में मेरा क्या होगा?" ऐसी चिन्ता का होना परलोकभय है।

मैं मरकर कहाँ जाऊँगा और वहाँ मेरा क्या होगा?—अज्ञानी निरन्तर इसप्रकार सशंक रहता है। इसकारण अज्ञानी परलोक सम्बन्धी चिन्ता से ग्रस्त रहता है, सशंक रहता है। जबकि ज्ञानी ऐसा जानता है—मानता है कि यह चैतन्य ही मेरा एक नित्य लोक है, जो कि सर्वकाल—सदैव प्रगट ही है। जो अज्ञानी परलोक को नहीं मानते, वे भी अनादि-अनन्त आत्मा हैं कि नहीं? और यदि वे भी आत्मा हैं तो वर्तमान देह के छूटने पर कहीं न कहीं जन्म तो लेंगे कि नहीं? अरे! अज्ञानी जो परलोक को नहीं मानते, वे भी अपने स्वरूप के भान बिना चार गतियों में भटकते हैं और जन्म-मरण के दुःख भोगते हैं तथा निरन्तर भयभीत रहते हैं।

अहा! ज्ञानी जानता है कि 'यह त्रिकाल चित्स्वरूप मेरा आत्मा ही मेरा एक-नित्य-शाश्वत लोक है, जो सर्वकाल प्रगट है। सम्यग्दृष्टि को पर्याय में ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय व अनुभव होता है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी ऐसा विचारता है कि "अपने ज्ञायक भगवान आत्मा के सिवाय अन्य कोई लोक मेरा नहीं है तथा यह जो मेरा चैतन्यलोक है, यह किसी के बिगाड़ने से बिगड़ता नहीं है, इसे कोई बिगाड़ ही नहीं सकता। "लोक्यते इति लोकः" अर्थात् जिसमें वस्तु (द्रव्यसमूह) ज्ञात हो, वह लोक है। आत्मा को चैतन्यलोक इसलिये कहा है कि उसमें चेतन-अचेतन सब ज्ञात होते हैं। ऐसा ही उसका स्वभाव है। इसलिए जिसमें मेरा चैतन्यलोक ज्ञात होता है, वह चित्स्वरूप आत्मा ही मेरा लोक है। इसके सिवाय अन्य कोई भी मेरा लोक नहीं है।

प्रश्नः- क्या आत्मा के बाहर आत्मा का कुछ भी नहीं है?

समाधानः- हाँ, आत्मा के बाहर आत्मा का कुछ भी नहीं है। जहाँ अपनी पर्याय भी त्रिकाली शुद्ध आत्मा में नहीं है, वहाँ अन्य द्रव्य की तो बात ही क्या है? अहाहा....! एक ज्ञायकभाव नित्यानंद अविनाशी आत्मप्रभु ही मैं हूँ और वही मेरा है। उसके सिवाय मुझमें अन्य कुछ भी नहीं है। तथा वह त्रिकाल एकरूप है, किसी के बिगाड़ने से बिगड़ता नहीं है। ऐसा त्रिकाल एकरूप शुद्ध चित्स्वरूप लोक के सिवाय जगत में अन्य कोई मेरा लोक नहीं है।

ऐसा जानते हुए ज्ञानी के इहलोकभय कैसे हो सकता है ? नहीं होता। अहा! इहलोक व परलोक सम्बन्धी सामग्री अर्थात् जगत के सब पदार्थ कालाग्नि के ईंधन हैं। ऐसा जानते हुए ज्ञानी के इहलोक व परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

अज्ञानी को ये दोनों भय होते हैं; क्योंकि वह जहाँ भी अपना पड़ाव डालता है, वहाँ स्थित सब वस्तुओं को अपना मान बैठता है। वह अपने त्रिकाली आनन्दस्वभावी चैतन्य महाप्रभु भगवान आत्मा में स्थिर नहीं होता। चारों गतियों में जहाँ-जहाँ जन्म लेता है, उन्हें ही अपना मान लेता है, जबकि ये सब संयोग नाशवान हैं, क्षणिक हैं; इसकारण जब उनका वियोग होता है तो चिंतित होता है, उनके वियोग की आशंका में निरन्तर भयभीत रहता है।

अरे भाई! इहलोक सम्बन्धी व परलोक सम्बन्धी सामग्री आत्मा के चैतन्यलोक में जब है ही नहीं तो उसके नाश का भय होता ही कहाँ है? इसीकारण ज्ञानी के ये भय नहीं है। ज्ञानी तो निरन्तर यही अनुभव करता है, विचारता है कि मेरा तो अनन्तगुण समान स्वरूप सदा एकरूप चैतन्यप्रभु आत्मा ही है। अहा! ऐसा जानते, अनुभव करते हुए ज्ञानी को इहलोक सम्बन्धी व परलोक सम्बन्धी भय नहीं रहता। वह तो अपने को सदा स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है। अहाहा....! मैं तो अतीन्द्रिय आनंदरस का रसिया धर्मी हूँ। एक ज्ञान व आनन्दस्वरूप आत्मा ही हूँ; ज्ञानी निरन्तर ऐसा अनुभव करता है। इसकारण उसे इहलोकभय व परलोकभय नहीं होते।

अब वेदनाभय का काव्य कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५६॥

श्लोकार्थः- (निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदक-बलात्) अभेदस्वरूप वर्तते हुये वेद्य-वेदक के बल से (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं—ऐसी वस्तुस्थिति के बल से) (यद् एकं अचलं ज्ञानं स्वयं अनाकुलैः सदा वेद्यते) एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा (ज्ञानियों के द्वारा) सदा वेदन में आता है, (एषा एका एव हि वेदना) यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक हैं और ज्ञान वेद्य है)। (ज्ञानिनः अन्या आगत-वेदना एव हि न एव भवेत्) ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (पुद्गल उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं, (तद्-भीः कुतः) इसलिए उसे वेदना का भय कहाँ से हो सकता है? (सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति) वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः- सुख-दुख को भोगना वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही उपभोग है। वह पुद्गल से होनेवाली वेदना को वेदना ही नहीं समझता, इसलिए ज्ञानी के वेदनाभय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञान का अनुभव करता है।

कलश १५६ पर प्रवचन

देखो, २१६ गाथा में जो वेद्य-वेदक की बात आई थी—वह बात इससे भिन्न है। वहाँ गाथा २१६ में तो यह कहा था कि जो भाव वेदन करता है वह वेदकभाव है तथा जिस भाव का वेदन किया जाता है, वह वेद्यभाव है वे दोनों भाव समय-समय पर नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उन विभावभावों का उत्पन्न—विनाशत्व होने से वे भाव क्षणिक हैं। दोनों भावों में कालभेद है। जब वेद्यभाव होता तब वेदक नहीं होता और जब वेदक होता है तब वेद्य नहीं होता। वहाँ जो वांछा करनेवाला वेदकभाव है, वह जबतक उत्पन्न होता है तब वेद्य नहीं होता है तबतक वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है, तो वह वेदकभाव किसका वेदन करेगा? इसप्रकार ज्ञानी जानता है, अतः वह दोनों भावों की वांछा नहीं करता।

और यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञानी के तो अभेद वेद्य-वेदक भाव होता है। कहा है न कि अभेदस्वरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से

अर्थात् मैं ही वेदन करनेवाला हूँ और मैं ही वेदन करने योग्य हूँ— इसप्रकार वेद्य-वेदक दोनों अभिन्नरूप से एक ही आत्मवस्तु में विद्यमान हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी मैं स्वयं हूँ तथा उसी आनन्द की भावनावाला भी मैं स्वयं ही हूँ। इसप्रकार वेद्य-वेदक भाव भगवान आत्मा में ही अभिन्न हैं।

अरे भाई! राग का करना तथा उसे भोगना या वेदन करना आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। अतः धर्मी को तो नित्य आनन्द की भावना व आनन्द का ही वेदन होता है।

प्रश्नः- आपका यह कहना उचित है, पर यह तो निश्चय की बात हुई; इसका कोई व्यवहार साधन भी तो होगा?

समाधानः- हाँ, साधन है। राग से भिन्न पड़कर अर्थात् राग से भेदज्ञान करके अतंरंग में निराकुल आनन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही इसका यथार्थ साधन है, एकमात्र "प्रज्ञाछैनी" ही साधन है। प्रज्ञाछैनी तो वाचक शब्द है। उसका वाच्य यह है कि राग से भेदज्ञान करके उसे अपने से भिन्न मानकर आत्मा का अनुभव करना। बस, इसी का नाम प्रज्ञाछैनी है और यही साधन है। इसके सिवाय अन्य बाह्य क्रियाकाण्ड इस अभेद वेद्य-वेदक भाव का साधन नहीं है।

गाथा २१६ में जो वेद्य-वेदक कहा वह तो विभाव का वेद्य-वेदक था, अतः उसका निषेध किया है। वह विभाव का वेद्य-वेदक ज्ञानी के नहीं होता। यहाँ "उदित" कहकर यह कहा है कि आनन्द की जो प्रगट दशा है, उसे ज्ञानी स्वयं ही वेदता है। वेदने लायक भी स्वयं तथा वेदन करनेवाला भी, स्वयं ही है। ज्ञानी के एक समय की पर्याय में अभिन्न वेद्य-वेदकभाव होता है।

प्रश्नः- द्रव्य वेदक व पर्याय वेद्य—ऐसा है या नहीं?

उत्तरः- नहीं, ऐसा नहीं है। वेदने योग्य भी ज्ञान-आनन्द की पर्याय है तथा वेदन करनेवाली भी वही ज्ञान व आनन्द की पर्याय है। द्रव्य तो द्रव्य है, द्रव्य को क्या वेदन करना है और क्या वेदन कराना है? प्रवचनसार की १७२वीं गाथा के अलिंगग्रहण के २०वें बोल में कहा

है कि प्रत्यभिज्ञान का कारण जो सामान्य द्रव्य–भगवान आत्मा है, उसे आत्मा वेदता नहीं है। आत्मा तो अपनी शुद्धपर्याय को वेदता है। इसलिए वहाँ शुद्धपर्याय को ही आत्मा कहा है। भले दृष्टि द्रव्य पर है, किन्तु वेदन तो पर्याय ही करती है। जहाँ ऐसा कहा हो कि आत्मा वेदता है, उसका अर्थ ही यह है कि आत्मा की निर्मलपर्याय ही वेदन करती है। आत्मा (पर्याय) द्रव्य-सामान्य को तो छूता ही नहीं है। भाई! जो वेदन है वह तो पर्याय का पर्याय में है।

वहाँ प्रवचनसार की गाथा १७२ के १८वें एवं १९वें बोल में ऐसा कहा है कि आत्मा गुण विशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्ध द्रव्य है। वह अर्थावबोधरूप विशेष गुण का या भेद का स्पर्श नहीं करता तथा अर्थावबोधरूप विशेष पर्याय को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता। इसप्रकार पर्याय विशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्ध द्रव्य है। बीसवें बोल में कहा है कि लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो अर्थावबोध सामान्य उसका भी निर्मलपर्याययुक्त आत्मा स्पर्श नहीं करता। तात्पर्य यह है कि शुद्धपर्याय का जो वेदन हुआ, वह मैं हूँ; क्योंकि मेरे वेदन में पर्याय आयी है। वेदन में द्रव्य नहीं आता तथा वेदन करनेवाली भी पर्याय है, द्रव्य व गुण वेदन नहीं करते।

आत्मा (पर्याय) शुद्ध पर्याय का वेदन करता है। द्रव्य गुण का वेदन कैसे करे? क्योंकि द्रव्य व गुण तो सामान्य, ध्रुव व अक्रिय हैं। इसीकारण तो कहा है कि जो सामान्य का स्पर्श नहीं करती–ऐसी शुद्ध पर्याय ही आत्मा है। यहाँ तो यह कहा है कि जो वेदन में आई–वह शुद्ध पर्याय मेरा आत्मा है। बापू! बात बहुत सूक्ष्म है.

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि एक अभेद चैतन्यरूप आत्मा पर होने से उसकी निर्मल पर्याय में वेद्य-वेदक अभेदरूप से वर्तता है। अहाहा....! शुद्ध चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से उसको जो निर्मल निराकुल आनन्द की दशा प्रगट होती है, उसे वेदन करनेवाली भी अपनी ही पर्याय है तथा वेदन में आनेवाली पर्याय भी वही अपनी पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि वैद्य-वेदक अभेद होता है। ऐसे अभेद वेद्य-वेदक के बल से समकिती को एक ज्ञान ही अनुभव में आता है।

प्रश्नः- क्या इसप्रकार निश्चय का एकान्त कथन करने से व्यवहारधर्म का लोप नहीं हो जायेगा?

उत्तरः- अरे भाई! वस्तु के स्वभाव में तो व्यवहार का वैसे भी स्थान नहीं है। वस्तु का स्वरूप तो निश्चय द्वारा ही ग्राह्य है। अतः जब भी वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन होगा तब तो निश्चय ही मुख्य रहेगा, पर उससमय भी व्यवहार गौण हुआ है, लोप नहीं। वस्तु में समस्त पराश्रयी व्यवहार का तो निषेध ही है। तथा यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जो व्यवहार का विकल्प है—वह वेद्य-वेदक में आता ही नहीं है और उस व्यवहार के कारण वेद्य-वेदक का अनुभव भी नहीं आता।

अहा....! निर्मलानन्द के नाथ अभेद एक सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा में दृष्टि अभेद होने पर पर्याय में निर्मल आनन्द की दशा प्रगट होती है तथा वह उसे वेद्य-वेदक भाव से वेदता है, बस इसी का वास्तविक नाम धर्म का प्रगट होना है।

व्यवहारधर्म तो वेद्य-वेदक से भिन्न ही रह जाता है। भाई! आत्मा का अभेदपने से जो अनुभव होता है, वही आत्मा है। व्यवहार भले हो, पर इससे आत्मानुभव नहीं होता।

प्रश्नः- व्यवहार को जो साधन कहा है, उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तरः- वस्तुतः व्यवहाररूप रागभाव वीतरागतारूप आत्मानुभव का साधन नहीं है। रागरूप व्यवहारधर्म को जो धर्मसाधन कहा है, वह तो इस अपेक्षा से कहा है कि जब अन्तरात्मा में स्वयं ने वीतरागस्वरूप का धर्मसाधन प्रगट किया, उस समय आत्मा में जो राग विद्यमान था, उस पर आरोप करके उसे धर्म का साधन कह दिया गया है। देखो, समकिती के व्यवहारसम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। निरन्तर परिणमनरूप है। भाई! व्यवहार तो रागरूप है, चारित्रगुण की उल्टी (विभाव) पर्याय है। फिर भी उसे जो व्यवहार समकित कहा है, सो वह तो आरोपित कथन करने की शैली है। भाई! जाना तो आत्मा में है न? राग में व्यवहार में जाने से क्या लाभ?

भाई! तू अनन्तकाल से आकुलता की चक्की में पिस रहा है। अहा! यह शुभभाव भी आकुलता है, दुःख है और दुःख आत्मा के आनन्द का कारण कैसे हो सकता है? जो व्रतादि को मोक्षमार्ग कहा है, वह तो इसलिए कहा है कि जिसने अंतरंग में निर्मल रत्नत्रयरूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट किया है, उसको जो व्रतादि का राग होता है उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग (व्यवहार मोक्षमार्ग) कहा; परन्तु यह तो आरोप देकर उपचार से कथन करने की शैली है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में पण्डित प्रवर टोडरमलजी ने इस बात का स्पष्ट खुलासा किया है तथा वे कहते हैं कि "निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र यही लक्षण है।"

यहाँ कहते हैं कि "वस्तुस्थिति के बल से आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की पर्याय में आनन्द की भावना एवं आनन्द का वेदन—सब एक ही साथ एक समय में सम्मिलित हैं। यह वस्तुस्थिति है। अहा....! आचार्य कुन्दकुन्द व अमृतचन्द्रदेव ने इस पंचमकाल में गणधर तुल्य काम किया है। वस्तु को ऐसा स्पष्ट किया है कि वह सूर्य के समान स्पष्ट दिखाई देती है। बापू! तू ऐसा ही शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है, पर उसे तू देखता क्यों नहीं है। तू भी उसे देख। अहा.....! जो अन्य वस्तुयें तुझे दिखाई देती हैं वे तो तुझमें आती नहीं हैं। देखनेवाला जिसे देखता है, वह वस्तु तो देखनेवाली पर्याय में आती नहीं है, परन्तु जब पर्याय देखनेवाले को देखती है तब पर्याय में देखनेवाले का ज्ञान-श्रद्धान प्रगट होता है, और तब जो अभेद वेद्य-वेदकपना प्रगट होता है, वही वास्तविक धर्म है।

यहाँ कहा है कि अभेदस्वरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से एक अचलज्ञान स्वयं निराकुल ज्ञानी पुरुषों के द्वारा सदा वेदन में आता है, वह एक वेदन ही ज्ञानियों के है। देखो, यहाँ एक अचल ज्ञान ही सदा वेदन में आता है—ऐसा जो कहा है न? उसमें अचल-त्रिकाली द्रव्य तो वेदता नहीं है, परन्तु अचलज्ञान पर दृष्टि होने से ऐसा कहा जाता है कि अचल वेदन करता है। पर वास्तव में तो पर्याय ही वेदन करती है, द्रव्य नहीं।

जाग रे जाग बापू! यह तो मोहनिद्रा से जगानेवाला महामंत्र है। ऐसा महा मंगलमय अवसर आया है, इसे व्यर्थ न गवाँ। तू इस बाहरी-राग की व संयोगों की महिमा में अटक गया है, वहाँ से हट जा।

यह अचल एक ज्ञान ही तेरा स्वरूप है, उसी का अभेदपने अनुभव कर! यहाँ "एक अचलज्ञान ही" कहकर यह दर्शाया है कि राग, पुण्य व विकल्प आदि कुछ भी नहीं, किन्तु एक ज्ञान ही वेदन में आता है। तथा जो "निराकुल पुरुष द्वारा" यह कहा है, उसका अर्थ है कि जिसने राग के अभावपूर्वक निराकुल आनन्द का अनुभव किया है, उन पुरुषों के द्वारा ज्ञान व आनन्द का ही वेदन किया जाता है। भगवान आत्मा अचल एक ज्ञानानन्द का बिम्ब है। उसका जिसको आश्रय वर्तता है, वे ज्ञानी निराकुल पुरुष हैं तथा उनके द्वारा एक ज्ञान ही वेदन में आता है। अर्थात् उनको आत्मा के एक ज्ञान व आनन्द का ही वेदन होता है।

"एषा एका एव वेदना" अर्थात् यह प्रत्यक्ष जो आत्मा के निराकुल आनन्द का वेदन है, वह एक ही वेदन ज्ञानियों के है, राग का वेदन ज्ञानियों के नहीं है। अहा...! आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु है, किन्तु एक भी गुण ऐसा नहीं है जो विकार को उत्पन्न करता हो। पर्याय की तत्समय की योग्यता के कारण विकार भले हो, किन्तु आत्मा का गुण–स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह विकार को करे तथा उसे वेदे। इससे अभेदरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से ज्ञानी को एक ज्ञान ही वेदन में आता है।

अहा! पर्यायरूप से सम्पूर्ण आत्मा पर्याय में ही वेदन में आता है और ज्ञानी के यह एक ही वेदन है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के साता या असाता का वेदन नहीं है। स्वयं ज्ञान ही वेदने योग्य है तथा ज्ञान ही वेदनेवाला है। यह सब पर्याय की बात है। पर्याय में पर्याय के ही षट्कारक है न? जिसतरह द्रव्य एवं गुणों में ध्रुव षट्कारक हैं, उसीतरह पर्याय में भी एक समय की पर्याय के अपने षट्कारक हैं।

अहा! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है भाई! जिसको यह आत्मतत्व स्वानुभव में प्राप्त हुआ है, उसका भवभ्रमण मिट जाता है।

अहा! पर्यायरूप से सम्पूर्ण आत्मा का पर्याय में वेदन हो जाता है और यह एक ही वेदन ज्ञानी के होता है। ज्ञानी के राग का वेदन नहीं होता; क्योंकि राग तो व्यवहार का आगंतुकभाव है, मूलभाव नहीं है। मेहमान की भाँति आगंतुकभाव है। मूल कलश में भी कहा है न कि

"आगत वेदना" आगत का अर्थ आगंतुक ही तो होता है। ज्ञानी के अन्य कोई पुद्गलादि से उत्पन्न हुई वेदना होती ही नहीं है।

प्रश्नः- क्या ज्ञानी के बाह्यवेदना की पीड़ा नहीं होती?

उत्तरः- नहीं होती, ज्ञानी को अन्य द्रव्य या द्रव्यान्तर का वेदन कैसा? यहाँ तो एक मुख्य लेना है न? इसी अपेक्षा से कहा है कि ज्ञानी के अन्य बाह्य आगत वेदना नहीं होती। ध्यान रहे—यह कथन स्वभाव की दृष्टि में राग के वेदन को गौण करके किया गया है। वैसे तो दृष्टि के साथ जो ज्ञान विकसित हुआ है, उसमें जितना रागांश है, उतना उसका वेदन भी है। परन्तु स्वभाव की दृष्टि में वह रागांश गौण है। इसी कारण कहा है कि ज्ञानी के आगंतुक वेदना—बाहर से आयी हुई रागादि की वेदना नहीं होती। ज्ञानी के एक ज्ञान का एवं निराकुल आनन्द का ही वेदन होता है।

ज्ञानी को जो अस्थिरता का राग आता है, वह उसका मात्र ज्ञाता ही है। वह उसका कर्ता या भोक्ता नहीं है। अहाहा....! "मैं आनन्द ही हूँ" ज्ञानी ऐसा जानता है। तथा जो विकल्प आता है ज्ञानी उसका भी ज्ञाता ही है। देखो! शंत्रुजय पर धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, सहदेव व नकुल अन्तर आनन्द में झूलते हैं। तब उनके शरीर पर लोहे के धग-धगाते हुए मुकुट आदि आभूषण पहना दिये थे। ऐसी स्थिति में भी वे मुनिवर तो अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्दरस पी रहे थे। उन्हें असाता का—खेद का वेदन नहीं था। उससमय केवल नकुल व सहदेव को पास में खड़े मुनिवरों को देखकर मात्र इसका विकल्प आया था। कि अरे! इन महा मुनिवरों पर यह कैसा भंयकर उपसर्ग। उन्हें धर्मात्मा के प्रति धर्मानुरागवश यह जो संज्वलन कषाय का विकल्प (राग) आया, उसके भी वे ज्ञाता ही रहे। उस समय अंतरंग में वेदन तो उन्हें भी निर्मल ज्ञानानन्द का ही था।

यहाँ इसी बात को पुनः पुनः स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि ज्ञानी को अन्य कोई आगंतुक विभाव की वेदना नहीं होती। अतः उनके वेदना का भय कहाँ से व कैसे हो सकता है? नहीं होता। इसलिए कलश में कहा है कि "स स्वयं सततं निःशंक-सहजं ज्ञानं सदा विन्दति" अर्थात् वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का ही अनुभव करता है।

देखो, यहाँ राग का वेदन गिना नहीं है, जबकि उसके किंचित् राग का भी वेदन है। परन्तु दृष्टि व दृष्टि के विषय की मुख्यता में राग का वेदन आगंतुक मानकर उसका निषेध किया है। अहा...! ज्ञानी के कोई बाह्यवेदना का भय नहीं होता; क्योंकि वह तो निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ एक स्वाभाविक ज्ञान को ही सदा अनुभवता है।

कलश १५६ के भावार्थ पर प्रवचन

"सुख-दुःख को भोगना ही वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही भोगना है—वेदना है।

देखो, कहते हैं कि धर्मी के एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही, एक निज आनन्दस्वरूप का ही वेदन है। व्यवहार रत्नत्रय के राग का भी उसके वेदन नहीं है, क्योंकि वह तो उसका ज्ञाता ही है। बारहवीं गाथा में भी आया है न? कि व्यवहार उस काल में केवल जाना हुआ प्रयोजनवान है। व्यवहार होता है, परन्तु ज्ञानी उसे केवल जानता ही है, वेदता नहीं। यहाँ मुख्य पर ही जोर है न? ज्ञानी के स्वभाव मुख्य है तथा स्वभाव की मुख्यता में राग का वेदन गौण हो जाता है। अतः ऐसा कहा है कि ज्ञानी राग को नहीं वेदता है।

देखो, श्रेणिक राजा क्षायिकसमकिती वर्तमान में नरक में है। उन्हें जितना कषायभाव है, उतना वहाँ दुःख का वेदन है; परन्तु वह कषाय भाव आत्मवस्तु में नहीं है तथा उसकी निर्मलपर्याय में भी नहीं है। वह जिस पर्याय का वेदन करता है, उस पर्याय में कषायभाव कहाँ है? अतः ज्ञानी को तो ज्ञानानन्द स्वरूप का ही उपयोग है।

विशेष कहते हैं कि ज्ञानी पुद्गल से हुई वेदना को वेदना ही नहीं मानता। देखो, निर्जरा अधिकार की १९४वीं गाथा में आया है कि वेदना साता-असाता का उल्लंघन नहीं करती। ज्ञानी को भी यदा-कदा यत्किंचित् वेदन हो जाता है, वह भी निर्जर जाता है। मुनि को भी जितना विकल्प है उतना राग है, परन्तु उसको यहाँ गिना नहीं है। इसकारण कहा है कि पुद्गल से हुई वेदना को ज्ञानी वेदना नहीं मानता। इसीकारण कहा है कि ज्ञानी के वेदनाभय नहीं है। वह तो सर्वथा वर्तता

हुआ ज्ञान का ही अनुभव करता है। अहाहा....! स्वरूप में निःशंकपने वर्तते हुए ज्ञानी को बाहर की किसी वेदना का भय नहीं है।

अब अरक्षाभय का काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५७॥

श्लोकार्थः- (यत् सत् तत् नाशं न उपैति इति वस्तुस्थितिः नियतं व्यक्ता) जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से प्रगट है। (तत् ज्ञानं किल स्वयमेव तत्) यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्स्वरूप वस्तु) है (इसलिए नाश को प्राप्त नहीं होता), (ततः अपरैः अस्य त्रातं किं) इसलिए पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा? (अतः अस्य किंचन अत्राणं न भवेत्) इसप्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है इसलिये) उसका किंचित्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता (ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः) इसलिए (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को अरक्षा का भय कहाँ सो हो सकता? (सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति) वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः- सत्तास्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है; इसलिए वह ऐसा नहीं है कि जिसकी दूसरों के द्वारा रक्षा की जाये तो रहे अन्यथा नष्ट हो जाये, ज्ञानी ऐसा जानता है; इसलिए उसे अरक्षा का भय नहीं होता। वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

कलश १५७ पर प्रवचन

"यत् सत् तत् नाशं न उपैति इति वस्तुस्थितिः नियतं व्यक्ताः" जो सत् है वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता—ऐसी वस्तुस्थिति नियतपने प्रगट है।

अहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सत् है। सत् अर्थात् शाश्वत् है और शाश्वत वस्तु का कभी नाश नहीं होता। वस्तु की यह निश्चित मर्यादा है।

"तत् ज्ञानं किल स्वयमेव सत्" यह ज्ञान भी स्वयेव सत् है—सत्स्वरूप है, इसकारण उसका भी नाश नहीं होता। यहां "ज्ञान" का अर्थ स्वतः भगवान आत्मा ही है तथा "स्वयमेव" का अर्थ स्वतः अपने से ही स्वाधीनपने सत्स्वरूप है, किसी ईश्वर आदि भिन्न सत्ता ने इसे उत्पन्न नहीं किया है और न ही इसका कोई नाश कर सकता है। अहाहा....! आत्मा स्वयमेव अनादि-अनन्त अविनाशी अकृत्रिम वस्तु त्रिकाल सत् है।

"ततः अपरैः अस्य त्रातं किं" तो फिर अन्य पर के द्वारा उसकी रक्षा का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो स्वयं से ही है, उसका पर के द्वारा रक्षण कैसा? "अतः अस्य किन्चन् अत्राणं न भवेत्"—अतः उसका पर के द्वारा जरा भी अरक्षण नहीं हो सकता। भगवान आत्मा त्रिकाली सत् प्रभु स्वतः स्वयं से ही सुरक्षित होने से उसका जरा भी अरक्षण नहीं हो सकता। आत्मवस्तु सच्चिदानन्द प्रभु स्वतः से ही शाश्वत् पदार्थ है।

"ज्ञानिनः तद्भी कुतः" इसलिए ज्ञानी के अरक्षा का भय कैसे हो सकता है? "स स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति—वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का अनुभव करता है। स्व को भी जानता है व राग को भी जानता है—इसप्रकार ज्ञान का ही अनुभव करता है। राग को जानता है—यह कहना भी सापेक्ष कथन है। वास्तव में तो राग सम्बन्धी ज्ञान, जो स्वयं से ही उस समय सहजपने हुआ है उस ज्ञान को ही अनुभवता है, राग को नहीं। इसकारण भी उसे रागादि से अरक्षाभय नहीं है।

कलश १५७ के भावार्थ पर प्रवचन

जो वस्तु सत्स्वरूप है, वह कभी भी असत्रूप नहीं होती। यह सर्वसाधारण नियम है। ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं सत्तास्वरूप तत्व है, इसीकारण वह सदा सुरक्षित ही है। अन्य की रक्षा करने के आधीन नहीं है। वह तो अनादि-अनन्त स्वयं सुरक्षित वस्तु है। ज्ञानी ऐसा जानता है, अतः उसको अरक्षा का भय नहीं है।

अहा! जिसने अपने त्रिकाली शाश्वत् स्वरूप को—शुद्ध चिदानन्द भगवान को दृष्टि में लिया है, उसे पर द्वारा रक्षा की अपेक्षा नहीं रहती। वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान को सदा *अनुभवता है।*

निःशंक का अर्थ यहाँ निर्भय है। ज्ञानी अपने पुरुषार्थ से स्वभाव-सन्मुख रहता हुआ—सदा स्वाभाविक ज्ञान का अनुभव करता है। अपनी सत्ता त्रिकाल शाश्वत् है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी निःशंक होकर अपने स्वाभाविक ज्ञान को सदा अनुभवता है। अहो! ज्ञानी ने वस्तु के शाश्वत् भाव को दृष्टि में लिया है, इससे वह पर्याय में उसे निःशंकपने अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन होने पर जीव को ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं तो त्रिकाल शाश्वत् तत्व हूँ, ये शरीर-मन-वाणी आदि जो नाशवान वस्तुएँ हैं, वे मेरी नहीं हैं। मैं तो उन सबसे भिन्न एक त्रिकाल शाश्वत् शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप वस्तु हूँ। अतः वह सम्यग्दृष्टि जीव स्वतः अपने स्वाभाविक ज्ञान अर्थात् आत्मा का ही अनुभव करता है।

भगवान आत्मा अनंतगुणों का पिण्ड प्रभु स्वयं सिद्ध सत्ता है। किसी के द्वारा की हुई नहीं, बल्कि अनादि-अनंत अकृत्रिम वस्तु है। उसे धर्मी ज़ीव ने अपनी दृष्टि में लिया है। इससे स्वयं अर्थात् व्यवहार के राग की अपेक्षा बिना अपने स्वाभाविक ज्ञान को निरन्तर अखण्डधारा से अनुभव करता है।

भाई! ज्ञानी स्वयं से ही सदा स्वयं को स्वरूप से अनुभव करता है। तथा पर से कभी भी अनुभव नहीं करता—यह मूल सिद्धान्त है। क्या कभी पर से भी स्वरूप का अनुभव हो सकता है? नहीं, कभी नहीं हो सकता। बापू! भगवान आत्मा तो अखण्ड ज्ञायकभाव परमपारिणामिक भावरूप है। वैसे देखा जावे तो पारिणामिकभाव तो पुद्गल के परमाणु में भी हैं, परन्तु यह आत्मा तो ज्ञान-स्वभाव भावरूप है। इससे यह परम पारिणामिकभाव शाश्वत ज्ञायकभाव है। उसको ज्ञानी स्वयं अर्थात् पर के आश्रय बिना ही अपने से ही—अपने आश्रय से ही अपने आत्मतत्त्व का अनुभव करता है।

अब अगुप्तिभय का काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५८॥

श्लोकार्थः- (किल स्वं रूपं वस्तुनः परमा गुप्तिः अस्ति) वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परमगुप्ति है (यत् स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टुम् न शक्तः) क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; (च) और (अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं) अकृतज्ञान (जो किसी के द्वारा नहीं किया गया है ऐसा स्वाभाविक ज्ञान) पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्मा की परमगुप्ति है।) (अतः अस्य न काचन अगुप्तिः भवेत्) इसलिये आत्मा की किंचित्मात्र भी अगुप्तता न होने से (ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः) ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहाँ से हो सकता है? (सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति) वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः- 'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके—ऐसा किला, भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि वस्तु के निजस्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूप में रहा हुआ आत्मा गुप्त है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहाँ से हो सकता है? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का ही निरन्तर अनुभव करताहै॥१५८॥

कलश १५८ पर प्रवचन

"किल स्वरूपं वस्तुतः परमगुप्तिः अस्ति" वस्तुतः वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति है।

अहा! कहते हैं कि वस्तु स्वयं ही स्वयं में गुप्त है। उसमें अन्य किसी का भी प्रवेश नहीं है। शरीर-मन-वाणी आदि पर का उसमें प्रवेश नहीं है, यह तो प्रगट ही है; पर उस मूल वस्तु में तो रागादि विकल्पों का भी प्रवेश नहीं है। भगवान आत्मा आनन्दकन्द प्रभु अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव की मूर्ति है। वह स्वरूप से ही परमगुप्त है। उसमें दया, दान आदि विकल्पों का भी प्रवेश नहीं है।

देखो, वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति है—ऐसा कहते हैं; क्योंकि "स्वरूपे कः अपि प्रवेष्टुम् न शक्तः अर्थात् स्वरूप में कोई अन्य प्रवेश नहीं कर सकता। जिसप्रकार कोई किले में प्रवेश नहीं कर सकता, उसीतरह स्वयं भगवान आत्मा भी ध्रुव-अभेद्य किला है। उसमें शरीरादि तो क्या? व्यवहार रत्नत्रय के विकल्पों का व एक समय की निर्मलपर्याय का भी प्रवेश नहीं। अहा! अन्दर परमपदार्थ आत्मप्रभु है। उसे पर्याय देखती है, अनुभवती है, परन्तु उसमें उस पर्याय का भी प्रवेश नहीं है।

अहाहा.....! अपने शाश्वत, ध्रुव ज्ञानानन्दस्वरूप में प्रवेश करने की अन्य किसी की भी सामर्थ्य ही नहीं है। पर्याय तो नवीन होती है, पर ज्ञानस्वभाव तो अकृत ही है। ज्ञायकस्वभाव त्रिकाल अकृत्रिम है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा परमगुप्त ही है।

"अतः अस्य न काचन अगुप्ति भवेत्" इसलिए आत्मा के किंचित् भी अगुप्तिपना नहीं होने से अगुप्तिभय नहीं है। जब वस्तु सदा अपने में गुप्त ही है और धर्मी की दृष्टि भी सदा ही उस अपने शाश्वत् त्रिकाली गुप्त स्वभाव पर है, तो फिर अगुप्ति का भय कहाँ सो हो?

"सः स्वयं सततं निःशंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति—" वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तते हुए सहजज्ञान को सदा अनुभव करता है। देखो, छहों कलशों में यह अन्तिम पंक्ति है। जिसमें कहा गया है कि ज्ञानी

स्वयं अपनी पर्याय में सहज ज्ञानानन्दस्वभाव को अखण्डधारा से अनुभव करता है। भले ही यह विकल्प में आता हुआ दिखाई देता है पर वह विकल्परूप होता ही नहीं है—ऐसा कहते हैं। उसका तो सदैव शाश्वत एक ज्ञानस्वभाव की ओर ही अखण्डधारा से झुकाव रहता है।

अहा! इस संसार को देखो न? छोटी उम्र में भी क्षण भर में देह छूट जाती है। जब देह की ही स्थिति ऐसी है, तो अन्य संयोगों की क्या बात करें? पर आकस्मिक तो कुछ होता नहीं है। यह बात १६0वें कलश में विस्तार से कही जायेगी कि लोक में अकस्मात कुछ होता ही नहीं है। लोक को पता नहीं है, इससे उन्हें ऐसा लगता है कि यह कार्य अचानक या अकस्मात हो गया है, पर अकस्मात् जैसी कोई वस्तु ही लोक में नहीं है। सब अपने-अपने में क्रमबद्धरूप से सुनिश्चित है। तथा यह जो देह है वह तो मिट्टी है, यह तो भगवान आत्मा को छूता ही नहीं है। यह बात तीसरी गाथा में भी आ गई है कि सर्व पदार्थ अपने-अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहकर अपने-अपने अनन्तधर्मों का चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक-दूसरे गुणों का स्पर्श नहीं करते। अहा! भगवान आत्मा अपनी शक्तियों को तथा पर्यायों को छूते हैं, परन्तु परमाणु आदि का स्पर्श नहीं करते।

अहा! ऐसे भगवानस्वरूप आत्मा में जिसने दृष्टि स्थापित की है, वह धर्मात्मा पुरुष निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ एक ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है।

आनन्द का नाथ भगवान आत्मा शाश्वत् शुद्ध पदार्थ सदा गुप्त ही है। उसमें राग का प्रवेश नहीं है। उसमें रागादि किसी का भी प्रवेश नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान को निरन्तर अखण्डधारापने अनुभव करता है। "सतत" व "सदा" कहकर यह कहा है कि ज्ञानी अखण्डरूप से सदैव ज्ञान का ही अनुभव करता है, कभी भी राग का अनुभव नहीं करता। देखो, यह है ज्ञानी के निर्जरा की स्थिति। उनकी अशुद्धता नष्ट हो जाती है और शुद्धता की बृद्धि होती है। तथा मोक्ष में शुद्धि की पूर्णता होती है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के अगुप्तिभय नहीं होता; क्योंकि वह तो निरन्तर निःशंकभाव से रहता हुआ सहज एक ज्ञान को ही अनुभवता है अर्थात् वह शाश्वत् एक ध्रुव को ही अनुभव करता है। परन्तु अनुभव तो पर्याय ही करती है न? वह पर्याय ध्रुव के सम्मुख होकर ध्रुव का अवलम्बन करती है, अतः ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानी ध्रुव का अनुभव करता है।

अज्ञानी ने भगवान ज्ञायकभाव को पर्याय व रागबुद्धि की आड़ में तिरोभूत किया था, ढक दिया था। यद्यपि ज्ञायकभाव वस्तुतः तिरोभूत नहीं होता; परन्तु राग व पर्याय की आड़ में वह ज्ञात नहीं होता। बस, उसको ही ज्ञायकभाव का तिरोभूत होना कहा जाता है। है तो वह पूरा का ही पूरा; परन्तु प्रगट पर्याय में राग का व पर्याय का ही अस्तित्व स्वीकार करने से ज्ञायकभाव की स्वीकृति नहीं हुई, इसी को ज्ञायकभाव का तिरोभाव कहा जाता है। तथा जब त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्दस्वरूप अखण्ड एक ज्ञायकभाव का पर्याय में स्वीकार किया, तब उसको ज्ञायकभाव का आर्विभाव हुआ ऐसा कहा जाता है। यद्यपि भाषा तो ऐसी है कि ज्ञायकभाव प्रगट हुआ, परन्तु कहाँ-क्या अपेक्षा है—यह बात भलीभाँति समझना चाहिए।

कलश १५८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ कहते हैं कि प्राणी बाहर खुले क्षेत्र में अगुप्त रहने से स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है, अतः वह मकान, किला आदि में गुप्त रहना चाहता है।

पर ज्ञानी जानते हैं कि वस्तु के निजस्वरूप में अर्थात् चैतन्यमयी त्रिकाल अस्तिरूप भगवान आत्मा में अन्य किसी परद्रव्य रूप चोरादि का प्रवेश ही नहीं है, भगवान आत्मा का स्वरूप ही परम गुप्तिरूप अभेद्य किला है। उसमें कौन प्रवेश कर सकता है? जिसप्रकार चक्रवर्ती के दरबार में किसी शत्रु का प्रवेश संभव नहीं; उसीप्रकार तीन लोक के नाथ चिदानन्द भगवान के दरबार में भी किसी अन्य का प्रवेश संभव नहीं है। ग्यारहवें कलश में आता है न कि ये बद्ध स्पृष्टादिभाव आत्मा

ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं। अन्दर में प्रतिष्ठा नहीं पाते। जहाँ अपनी निर्मलपर्याय का ही प्रवेश नहीं है वहाँ राग व पर का प्रवेश तो कैसे हो सकता। अहा.....! अपने चिदानन्दस्वरूप को जहाँ अंतरंग में स्वीकार किया, वहाँ शेष रहा ही क्या? जहाँ आनन्द की बादशाही स्वीकार करली, वहाँ पामरता को स्थान ही कहाँ रहता है? उसे तो पर्याय में प्रभुता प्रगट हो जाती है।

जिसतरह जंगल का स्वामी सिंह निर्भय है, उसीतरह अनन्त गुणों का स्वामी भगवान आत्मा निर्भय है। अतः वह ज्ञानी पुरुष पुण्य-पाप को तो क्षणभर में ही समाप्त कर देता—ऐसा वह सिंह की भाँति पराक्रमी है।

अनन्तवीर्य का स्वामी है न? अहा! उस आत्मा के बल की एवं उसके स्वभावगत सामर्थ्य की क्या बात करें?

अतः यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी अपने स्वरूप को कारणरूप से ग्रहण करके निःशंक हुआ निरन्तर अखण्डधारा से अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का ही अनुभव करता है।

अब मरणभय का काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शास्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५९॥

श्लोकार्थः—(प्राणोच्छेदम् मरणं उदाहरन्ति) प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं। (अस्य आत्मनः प्राणाः किल ज्ञानं) निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है। (तत् स्वयमेव शाश्वततया जातुचित् न उच्छिद्यते) वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत होने से, उसका कदापि नाश नहीं होता; (अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत्) इसलिये आत्मा का मरण किंचित्मात्र भी नहीं होता। (ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः) अतः (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है? (सः स्वयं

सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति) वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—इन्द्रियादि प्राणों के नाश होने को लोग मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं, उसके तो ज्ञान प्राण हैं। ज्ञान अविनाशी है—उसका नाश नहीं होता; अतः आत्मा को मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलिये उसे मरण का भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

कलश १५९ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यह मरणभय का काव्य है। इसमें कहा है कि जगत में प्राणों के नाश को मरण कहते हैं। पाचँ इन्द्रियाँ, तीन बल मन-वचन-काय, आयु व श्वासोच्छ्‌वास इन दस प्राणों के छूट जाने को लोक में मरण कहा जाता है, किन्तु निश्चय से देखा जाय तो 'अस्य आत्मनः प्राणाः किल ज्ञानं अर्थात् आत्मा का प्राण तो एक ज्ञानानन्द ही है। चैतन्यभावप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है। अहा! जीव ही उसे कहते हैं, जिसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द व सत्ता के प्राण हों।

इन्द्रिय आदि जड—अचेतन प्राण तो असद्‌भूत व्यवहारनय से कहे गये हैं। इसकारण वे स्वरूप में नहीं है, स्वरूपभूत प्राण तो शुद्ध ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता व प्रभुता है। अहाहा! आत्मा स्वयं प्रभु परमात्मा है, जिसका प्रभुत्व प्राण है। अहाहा! ज्ञान की प्रभुता, दर्शन की प्रभुता, आनन्द की प्रभुता, सत्ता की प्रभुता, वीर्य की प्रभुता—ये जिसके प्राण हैं, वह ज़ीव है। भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द के प्राणों से जी रहा है, टिक रहा है। आत्मा का प्राण तो निश्चय से ज्ञान है।

अब कहते हैं कि "तत् स्वयमेव शाश्वततया जातुचित् न उच्छिद्यते" अर्थात् वह ज्ञान स्वयमेव शाश्वत होने से कभी भी नष्ट नहीं होता। "अतः तस्य मरणं किन्चन न भवेत्" अतः उसका मरण बिल्कुल नहीं होता। देह का नाश तो होता है, क्योंकि वह नाशवान है, पर ज्ञान-दर्शन आदि निश्चय प्राणों का नाश नहीं होता, इसकारण आत्मा का मरण कभी नहीं होता।

"ज्ञानिनः तद्भी कुतः" इसकारण ज्ञानियों के उस मरण का भय कहाँ से हो अर्थात् नहीं होता। वह तो सदा अपने शाश्वत ज्ञान व आनन्द में रहता है। देह भले छूटे, पर उससे आत्मा मरता नहीं है। ज्ञानी को ऐसा यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान हुआ है। अतः उसे मरणभय नहीं होता।

अज्ञानी को सदैव देहादि बाह्य द्रव्यप्राण छूट जाने का भय बना रहता है।

अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों की पहचान बिना अज्ञानी जीव मरण के भय से निरन्तर दुःखी रहता है, जबकि ज्ञानी निज शाश्वत चैतन्य प्राणों से अपना जीवन शाश्वत जानकर मरण के भय से मुक्त रहता है।

देखो, आयु समाप्त होती है, इसकारण देह छूटती हो—ऐसा नहीं है, देह में रहने की योग्यता ही जीव की उतनी होती है। अतः अपने ही कारण से जीव की जितनी व जैसी योग्यता जिस देह में रहने की होती है, वह जीव अपनी तत्समय की वैसी योग्यता से ही उस देह में उतने काल तक ठहरता है। आयुकर्म का होना व समाप्त हो जाना तो निमित्तमात्र है, उसके कारण न जीवन है और न मरण ही। अन्य कारणों पर से दृष्टि हटाने के लिए जिनवाणी में आयु को मुख्य किया जाता है तथा आयु पर से भी दृष्टि हटाने के लिए जीव की देह में रहने व न रहने की तत्समय की योग्यता को कथन में मुख्य किया जाता है।

अब कहते हैं कि वह योग्यता भी स्वरूपभूत नहीं है। अपने तो ज्ञान-दर्शन व आनन्द रूप चैतन्यप्राण हैं। जिसकी ऐसी अन्तर्दृष्टि हो जाती है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं तथा उसे मरणभय नहीं होता।

अरे भाई! ये इन्द्रियप्राण तेरे नहीं है, ये तो जड़-पुद्गल के हैं। तथापि उनको अपना माननेवाले अज्ञानी का जब मरण होता है तब वह उस मरण से भयभीत हुआ दुःखी होता है। फलतः उसे कुगति होती है।

तथा ज्ञानी तो स्वयं निरंतर निःशंक रहता हुआ सहजज्ञान को सदा अनुभवता है।

अब आकस्मिकभय का काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१६०॥

श्लोकार्थः- (एतत् स्वतः सिद्धं ज्ञानम् किल एकं) यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, (अनादि) अनादि है, (अनन्तम्) अनन्त है, (अचलं) अचल है। (इदं यावत् तावत् सदा एव हि भवेत्) वह जबतक है तबतक सदा ही वही है, (अत्र द्वितीयोदयः न) उसमें दूसरे का उदय नहीं है। (तत्) इसलिये (अत्र आकस्मिकम् किंचन न भवेत्) इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। (ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः) ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से हो सकता है? (सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति) वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थः- यदि कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो?—ऐसा भय रहना आकस्मिकभय है। ज्ञानी जानता है: कि आत्मा का ज्ञान स्वतः सिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँ से होगा अर्थात् अकस्मात् कहाँ से होगा? ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नहीं होता, वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभाव का निरन्तर अनुभव करता है।

इसप्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते।

प्रश्नः- अविरतसम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है और उनके भयप्रकृति का उदय होता है तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हु[आ] भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे हैं?

समाधानः- भयप्रकति के उदय से—निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है। और अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण

उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्म की भय नामक प्रकृति का दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिये ज्ञानी के भय नहीं॥१६०॥

कलश १६० पर प्रवचन

"एतत् स्वतःसिद्धं ज्ञानम् किल एकम् अनादि-अनन्तं अचलं" अर्थात् यह स्वतः सिद्ध ज्ञान (आत्मा) एक है, अनादि-अनन्त व अचल है। ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा स्वयं से है तथा एक है। तात्पर्य यह है कि उसमें शरीर, मन, वाणी, राग आदि अन्य कुछ भी नहीं है। तथा वह स्वतःसिद्ध सत्स्वरूप भगवान अनादि-अनन्त है। देखा, अन्य सभी पदार्थ राग, निमित्त आदि पदार्थ नाशवान हैं और भगवान आत्मा त्रिकाली सत् प्रभु अनादि-अनन्त है, सदा अविनाशी है। अहाहा....! मेरा आत्मा तो अनादि से स्वतःसिद्ध एक ज्ञानस्वरूप है तथा मैं त्रिकाल अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा ही रहनेवाला हूँ। धर्मी की दृष्टि इसप्रकार अपने शुद्ध एक चैतन्यतत्व पर रहती है।

"इदं यावत् तावत् सदा हि भवेत् अत्र द्वितीयोदयःन" वह (ज्ञान) जबतक है तबतक सदा ही वही है, उसमें दूसरे का उदय नहीं है। अहाहा....! त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूपी ही है। उसमें दूसरे का उदय नहीं है। भगवान आत्मा में अन्य का प्रगटपना नहीं है। अन्य वस्तु तो अन्य में है। अहाहा....! ज्ञानी कहते हैं कि मेरी त्रिकाली ध्रुव अचल वस्तु में अन्य वस्तु का उदय नहीं है। मेरा तो सदा एक ज्ञानरूप ही स्वरूप है।

"तत् अत्र आकस्मिकम् किन्चन न भवेत्" इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। अहाहा....! अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द से पूर्ण भरा हुआ ज्ञान व आनन्द का ध्रुवधाम प्रभु आत्मा त्रिकाल ऐसा का ऐसा ही है। अहा....! वर्तमान में भी त्रिकाली जैसा है, वैसा ही है, अचल है। उसमें अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है तथा अन्य वस्तु का प्रवेश भी नहीं है।

इसलिए कहते हैं कि आत्मा में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। देखो, यह है धर्मात्मा की दृष्टि।

धर्मी ऐसा जानता है कि मैं तो अनादि-अनन्त ज्ञानानन्दघन प्रभु अचल अविनाशी तत्त्व हूँ। यह शरीर, मन, वाणी, कर्मादि तो अजीव जड़ हैं तथा ये रागादि विकार अजीव व आस्रवतत्व हैं। ये सत मुझमें नहीं हैं। इसलिए मुझमें कुछ भी आकस्मिक नहीं होता। जब मेरे में अन्य कुछ है ही नहीं तो कुछ आकस्मिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अहा! धर्मी की दृष्टि अनन्तगुणमण्डित अपने त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूपी आत्मा पर है, अपने स्वरूप का निर्णय जिस ज्ञानपर्याय में हुआ है, वह ऐसा जानती है कि मैं तो ध्रुव अचल आनन्द की खान प्रभु आत्मा हूँ। मुझमें दूसरी किसी भी वस्तु का प्रवेश नहीं है। आनन्द के धाम आत्मप्रभु के सिवाय अन्य वस्तु में मेरा आनन्द है ही नहीं। इसप्रकार धर्मी जीव की परपदार्थ में से सुखबुद्धि उड़ जाती है और उसका परपदार्थ का अवलम्बन भी छूट जाता है।

नित्यानन्द प्रभु आत्मा में अन्य वस्तु का प्रवेश हो जावे और आकस्मिक कुछ घटना घट जावे—ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्नः- अकालमरण तो होता है न? क्या आकस्मिक मृत्यु नहीं होती?

समाधानः- भाई! आकस्मिक कुछ भी नहीं होता तो अकालमरण कैसे हो जायेगा? हाँ शास्त्रों में जो अकालमरण की बात आती है, वह अपेक्षा जुदी है। उससे इस कथन का कोई विरोध नहीं है। वह जो अकालमरण की बात आती है। वह तो निमित्त की प्रधानता से किया गया व्यवहार का कथन है। निश्चय से अकालमरण जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकाल में प्रगट होता है। यहाँ तो यह बात है कि समकिती की दृष्टि एक शुद्ध चैतन्य द्रव्य पर है तथा उसमें अन्य वस्तु नहीं है, इससे उसमें कुछ भी आकस्मिक नहीं होता। ऐसा ज्ञानी जानता है।

"ज्ञानिनः तद्भी कुतः अर्थात् तब फिर ज्ञानी के अकस्मात भय कहाँ से हो? नहीं हो सकता। धर्म की प्रथम सीढ़ी जो सम्यग्दर्शनरूप चतुर्थ गुणस्थान है, उसमें धर्मी निशंक वर्तता हुआ निरन्तर अपने आत्मा को

सदा ऐसा अनुभव करता है "मैं तो स्वयं सहज ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ।" अतः उसे आकस्मिकभय नहीं होता।

कलश १६० के भावार्थ पर प्रवचन

अचानक कोई आकस्मिक अनहोनी—अनचाही—अनिष्ट घटना घट जाय तो? ऐसे भय को आकस्मिकभय कहते हैं । समकिती के यह भय नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि मैं तो सदा स्वभाव से भगवान आत्मा हूँ। सदा अचल एक चैतन्यरूप हूँ। मुझमें अनहोनी कुछ घटना ही नहीं है। अतः उसे आकस्मिकभय नहीं होता। वह तो निःशंक वर्तता हुआ निरन्तर अपने ज्ञानभाव का अनुभव करता है।

प्रश्नः- चौथे गुणस्थान में भयप्रकृति का उदय है तथा उसे भय होता भी दिखाई देता है। फिर भी उसे निर्भय कहा है, सो यह कथन किस अपेक्षा से किया गया है, कृपया स्पष्ट करें?

समाधानः- अरे भाई! इसका समाधान पंडित श्री जयचन्दजी ने बहुत अच्छा किया है। वे कहते हैं कि भय प्रकृति के उदय के निमित्त से ज्ञानी को भी उपजता है तथा अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की पीड़ा सहने में समर्थ न होने से ज्ञानी इस भय का इलाज भी करते हैं, उसे दूर करने का उपाय करते हैं; परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाय।

देखो, श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती थे और आगामी काल में तीर्थंकर हों—ऐसा तीर्थंकर प्रकृति का कर्मबन्ध भी हो गया था; फिर भी जब उनके पुत्र ने उन्हें जेल में बन्द कर दिया, तब राजा श्रेणिक को किंचित् मृत्युभय लगा; परन्तु वह केवल चारित्र मोहोदयजनित अस्थिरता का भय था, श्रद्धा में वे उस समय भी निःशंक अविचलित और निर्भय थे। अस्थिरता के कारण जरा भय आ गया और सींकचे से चोट लगकर देह छूट गयी। जहाँ तक नरक गमन का प्रश्न वह बात जुदी है। क्षायिक समकिती के भी यदि सम्यग्दर्शन के पूर्व नरकगति का बन्ध हो जाता है तो वह छूटता नहीं है। भले स्थिति घट-बढ़ जावे, पर नरक तो

जाना ही पड़ता है। किन्तु सम्यग्दर्शन की यह महिमा है कि वहाँ से निकलकर वे आगामी चौबीसी में पहले तीर्थंकर होंगे। जबकि मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर पाँच महाव्रतों का पालन करने से नववीं ग्रैवेयक जाता और फिर वहाँ से च्युत होकर मनुष्य-पशु आदि चार गतियों में भटकता है।

प्रश्नः- ऐसा भय जो ज्ञानी के होता है, सो यह तो भय कर्म प्रकृति का दोष है, इसमें जीव का क्या दोष है?

समाधानः- भाई। दोष तो जीव का जीव की पर्याय में है, स्वभाव में नहीं है और कर्मप्रकृति के निमित्त से हुआ है इसकारण उसे प्रकृति का कहा जाता है। ज्ञानी की दृष्टि तो एकमात्र स्वभाव पर है, अतः प्रकृति के निमित्त से जो दोष होता है, उसका वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है, कर्ता नहीं बनता। कहा भी है—

"कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई"

किन्तु अपनी पर्याय में दोष होते हुए भी ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा रहकर उसे पररूप जानता है अर्थात् वह जैसा स्वभाव से एकमेक है, वैसा दोष से एकमेक नहीं होता। दोष स्वभाव में नहीं है तथा स्वभाव से उत्पन्न भी नहीं होता, इसलिए उसे कर्मप्रकृति का कहा जाता है। बात तो यह है कि ज्ञानी भय का स्वामी व कर्ता नहीं होता। अतः यह कहा है कि ज्ञानी के भय नहीं है।

अब आगे की (सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि चिन्हों सम्बन्धी) गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्णस्वरसंनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

श्लोकार्थः—(टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचित-ज्ञान-सर्वस्व-भाजः सम्यग्दृष्टेः) टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले

सम्यग्दृष्टि के (यद् इह लक्ष्माणि) जो निःशंकित आदि चिन्ह हैं वे (सकलं कर्म) समस्त कर्मों को (घ्नन्ति) नष्ट करते हैं; (तत्) इसलिये, (अस्मिन्) कर्म का उदय वर्तता होने पर भी, (तस्य) सम्यग्दृष्टि को (पुनः) पुनः (कर्मणः बन्धः) कर्म का बन्ध (मनाक् अपि) किंचित्मात्र भी (नास्ति) नहीं होता, (पूर्वोपात्तं) परन्तु जो कर्म पहले बँधा था (तद्अनुभवतः) उसके उदय को भोगने पर उसको (निश्चित) नियम से (निर्जरा एव) उस कर्म की निर्जरा ही होती है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि पहले बँधी हुई भय आदि प्रकृतियों के उदय को भोगता है, तथापि निःशंकित* आदि गुणों के विद्यमान होने से उसे शंकादिकृत^x (शंकादि के निमित्त से होनेवाला) बन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वकर्म की निर्जरा ही होती है॥१६१॥

कलश १६१ पर प्रवचन

"टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचित-ज्ञान-सर्वस्व-भाजः सम्यग्दृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण निज स्वरूप से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाला है। आत्मा नित्यानन्द प्रभु स्वयं सदा ज्ञानानन्द रस से अत्यन्त भरपूर है, सम्यग्दृष्टि अपने ऐसे परिपूर्ण ज्ञानानन्दरूप निज रस का भोगनेवाला है।

विषय रस तो ज्ञानी को विष के समान लगते हैं। ज्ञानी के राग का व विषय का रस नहीं है। ज्ञानी तो निजानन्द रस के सर्वस्व को भोगनेवाला है। जबकि अज्ञानी को तो यह भी खबर नहीं है कि मेरा स्वभाव क्या है? अतः विचारा वह तो दुःख को व राग को ही भोगता है और उसी में आनन्द मानता है। परन्तु बापू! यह तो भ्रमणा है।

अहा! भाषा तो देखो, "टंकोत्कीर्ण" अर्थात् ध्रुव-शाश्वत आत्मा "स्वरस-नियत" अर्थात् निजरस से परिपूर्ण "सर्वस्व भाज" अर्थात् सर्व "स्व" का भोगनेवाला सम्यग्दृष्टि है। अहा! क्या कलश है? शब्द-शब्द में गंभीर भाव भरा है।

---

* निःशंकित=संदेह अथवा भय रहित।

x शंका=संदेह; कल्पित भय।

अनंतगुणों का गोदाम, अनंतशक्तियों का संग्रहालय भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द, शाश्वत अन्दर में जैसे का तैसा विराजमान है। ऐसे निजरस से भरपूर आत्मा के सर्वस्व को सम्यग्दृष्टि भोक्ता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि के जो निःशंकित आदि चिन्ह हैं, वे समस्त कर्मों का नाश करते हैं।

देखो, सम्यग्दृष्टि के निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा आदि आठ गुण प्रगट हुए हैं। यद्यपि हैं तो ये पर्यायें, परन्तु इन्हें गुण कहते हैं। अहा! जिनको भगवान आत्मा के आनन्द का स्वाद आया है, वे निःशंक हुए हैं, उन्हें निःशंकतादि आठ गुण प्रगट हुए हैं, वे गुण समस्त कर्मों के क्षय में निमित्त बनते हैं।

अनादि से अज्ञान के कारण अज्ञानी की दृष्टि राग व पुण्य-पाप के विकल्पों पर पड़ी है, इससे वे पुण्य-पाप के—राग-द्वेष के विकारी भावों को करते हुए राग-द्वेष को ही भोगते हैं, विकार को ही भोगते हैं। अहा! विकार का भोगना दुःखरूप है, अधर्म है; क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है तथा ज्ञानी की दृष्टि नित्यानन्द अचल एक ध्रुव ज्ञानानन्द स्वभाव पर रहती है, इससे वह अपने सर्वस्व एक ज्ञानानन्दस्वभाव को भोगता है।

अहा! मेरे स्वरूप में अल्पज्ञता नहीं, विकार नहीं तथा निमित्त भी नहीं—ऐसा मैं निजरस से भरा हुआ ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ। अहा! जिसे ऐसे आत्मा की स्वीकृति हुई है, वह धर्मात्मा है, ज्ञानी है। वह ज्ञानी कहता है कि मेरे निःशंकितादि आठ गुण प्रगट हुये हैं, वे समस्त कर्म का हनन करते हैं। ज्ञानी के परम शुद्ध पूर्णानन्द स्वरूप को भोगते हुए जो निशंकितादि गुण प्रगट होते हैं, वे सर्वकर्मों का नाश कर देते हैं, एवं अशुद्धता को भी मिटा देते हैं।

"तत् अस्मिन् तस्य पुनः कर्मणः बन्ध- मनाक् अपि नास्ति" इसलिए कर्म का उदय वर्तते हुए भी उसके किंचित् भी कर्मबन्ध नहीं होता। अहा! अपने अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव का उपभोग करते हुए ज्ञानी के किंचित् अल्पबंध होता है, उसकी यहाँ गिनती नहीं की है। अहा!

वीतरागस्वरूपी ज्ञानानन्दस्वरूपी अभेद एक आत्मा की जहाँ दृष्टि व अनुभव हुआ, वहाँ धर्मी को कर्म का उदय वर्तते हुए भी बंध नहीं; क्योंकि उसे उदय का वेदन नहीं है, उसे तो केवल एक आत्मा के आनन्द का वेदन है। अहाहा....! ज्ञानी के तो एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का वेदन है।

प्रश्नः- तो क्या ज्ञानी के दुःख का वेदन सर्वथा नहीं है ?

समाधानः- नहीं, ऐसा नहीं। धर्मी की दृष्टि एक पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा पर है। उसे जो निर्मलस्वभाव का परिणमन होता है, वह इसका व्याप्य (कार्य) है, विकाररूप परिणमन धर्मी का व्याप्य नहीं है। धर्मी की दृष्टि स्वभाव पर है, इसीकारण विकार उसका व्याप्य नहीं है। इसी अपेक्षा से देखा जाय तो सम्यग्दृष्टि को ही क्या? छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के भी किंचित् विकारभाव है तथा उतना उसका वेदन भी है। परन्तु दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा से उसे गौण करके समकिती को राग का वेदन नहीं है—ऐसा कहा है। यहाँ उस किंचित् अस्थिरता के वेदन की मुख्यता नहीं है।

अहा! यह एक आत्मा ही शरण है। सम्पूर्ण घर एक क्षण में समाप्त (नष्ट) हो जाता है, मृत्यु की गोद में सो जाता है। इस नाशवान जगत का क्या भरोसा? यह सब पर वस्तुयें तो पर में पर के कारण हैं; उनमें अविनाशीपन नहीं है। ये सब तो अपने-अपने कारणों से आते-जाते रहते हैं। यहाँ तो आत्मा की एक समय की पर्याय भी नाशवंत है। अविनाशी तो एक नित्यानन्दस्वरूप ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव चिदानन्द प्रभु आत्मा है। उसका स्वीकार करने पर, उसी का भरोसा यानि प्रतीति करने पर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। अहा! ऐसे आनन्द का वेदन करनेवाले ज्ञानी के पूर्व के कर्म का उदय वर्तता हुआ भी वह खिर जाता है, नवीन बंध नहीं करता।

निश्चय से तो एक शुद्ध आत्मा शरणभूत है तथा व्यवहार से पंचपरमेष्ठी को शरणभूत कहा जाता है। इनके सिवाय जगत में सब अशरण हैं। यही तो यहाँ कहा है कि धर्मी निजरस से भरपूर आत्मा के सर्वस्व को भोगनेवाला है। अहा! वह राग को भोगनेवाला नहीं है तथा अपूर्णता को भी नहीं भोगता।

ज्ञानी के निःशंकितादि गुणों के कारण कर्म का उदय वर्तते हुए भी कर्म का बंध किंचित् भी नहीं होता। इस कथन से कोई ऐसा अर्थ ग्रहण करले कि ज्ञानी के जरा भी दुःख का वेदन नहीं है, तो यह बात भी बराबर नहीं है। यहाँ तो दृष्टि का विषय जो परिपूर्ण प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि में ज्ञानी अपने सर्वस्व का भोगनेवाला है—ऐसा कहा है।

दृष्टि का विषय तो नित्यानन्दस्वरूप आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द का भोग भले पर्याय में होता है, परन्तु वह पर्याय दृष्टि के विषय में नहीं है।" दृष्टि का विषय तो अविकारी रस का कंद चैतन्यमूर्ति नित्यानन्द चिदानन्दकन्द प्रभु आत्मा है तथा उसके सर्वस्व का भोगनेवाला ज्ञानी है, क्योंकि वस्तु तो अन्दर परिपूर्ण है। ज्ञानी शरीर को, राग को और अल्पज्ञता को नहीं भोगता। उसकी दृष्टि पूर्ण पर है और वह पूर्ण को ही भोगता है। अहा! भोगता तो अल्पज्ञपर्याय में है, पर भोगता है सर्वस्व को—पूर्ण को। भाई! जन्म-मरण रहित होने का मार्ग तो यही है।

अब कहते हैं कि "पूर्वोपात्तं तद् अनुभवतः निश्चितं निर्जरा एव" अर्थात् जो कर्म पूर्व में बंधा था, उसके उदय को भोगते हुए उसे नियम से उस कर्म की निर्जरा ही होती है। तात्पर्य यह है कि उदय में किंचित् लक्ष्य जाता है, परन्तु वह कर्म खिर जाता है और नवीन बन्ध पड़ता नहीं है।

अहा! जिसने चैतन्य महाप्रभु—पूर्ण सत्ता को लक्ष्य—दृष्टि में लिया, अनुभव में लिया, उसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता तथा पुराना कर्म खिर जाता है।

प्रश्नः- क्या फल दिये बिना ही खिर जाता है?

समाधानः- हाँ, फल दिये बिना ही खिर जाता है। जो उदय है, उसकी निर्जरा हो जाती है। कर्म तो जड़ है, परन्तु पर्याय में जो दुःख का फल आता था, वह आनन्द स्वभाव का आश्रय लेने से नहीं आता। भाई! चौरासी के जन्म-मरण रूप समुद्र से पार करने का यही एकमात्र उपाय है।

समयसार गाथा २२९

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२२९॥

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातिव्यः ॥२२९॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावाभावान्निश्शंकः, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव॥

अब इस कथन को गाथाओं द्वारा कहते हैं, उसमें से पहले निःशंकित अंग की (अथवा निःशंकित गुण की—चिन्ह की) गाथा इसप्रकार है—

जो कर्मबन्धनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२२९॥

गाथार्थः- (यः चेतयिता) जो चेतयिता, (कर्मबंधमोहकरान्) कर्म-बन्ध सम्बन्धी मोह करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बँधा हुआ है—ऐसा भ्रम करनेवाले) (तान् चतुरः अपि पादान्) मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को (छिनत्ति) छेदता है, (सः) उसको (निश्शंकः) निःशंक (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि (ज्ञातव्यः) जानना चाहिये।

टीकाः- क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण कर्मबन्ध सम्बन्धी शंका करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों से बँधा हुआ है—ऐसा सन्देह अथवा भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि भावों का (उसको) अभाव होने से, निःशंक है। इसलिये उसे शंकाकृत बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः- सम्यग्दृष्टि को जिस कर्म का उदय आता है उसका, वह स्वामित्व के अभाव के कारण कर्ता नहीं होता। इसलिये भयप्रकृति

का उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूप से च्युत नहीं होता। ऐसा होने से उसे शंकाकृत बन्ध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं।

गाथा २२९ पर प्रवचन

अहा! सत्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। भगवान आत्मा त्रिकाली परिपूर्ण सत् है। अहाहा....! अनन्तगुणों का पिण्ड चैतन्य रसकन्द भगवान आत्मा त्रिकाली सत् का पूर्ण सत्व है। उसकी जिसको दृष्टि हुई है, वह जीव सम्यग्दृष्टि है।

कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसी जरा भी शंका नहीं है कि मैं कर्म से बंधा हूँ अर्थात् निश्चय से 'मैं बंधा ही नहीं हूँ'—ऐसी जिसकी श्रद्धा है, वह सम्यग्दृष्टि है। अहा! यही वस्तुस्वरूप है। "मैं बंधा हूँ"—ऐसी शंका तो मिथ्याभाव है। भगवान आत्मा राग से या कर्म से बंधा नहीं है। वह तो अवद्धस्पृष्ट है तथा मैं भी एक भगवान आत्मा होने से अबद्धस्पृष्ट हूँ—ऐसा ज्ञानी अपना स्वरूप जानता है—अनुभवता है। अरे भाई! अवद्धस्पृष्ट प्रभु आत्मा राग के सम्बन्ध से कैसे बंध सकता है, नहीं बंध सकता। जो परद्रव्य से सम्बंध रखता है, वह बंधता है। पर आत्मा तो परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित ही है।

"मैं कर्म से बंधा हूँ"—ऐसा मानना ही संदेह या शंका नामक दोष है और यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। मैं तो कर्म व राग के सम्बन्ध से रहित अबद्ध—मुक्तस्वरूप ही हूँ—ऐसा मानना व अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे तरीके से कहें तो मेरा स्वद्रव्य कर्म के सम्बन्ध में है—ऐसा संदेह ज्ञानी को नहीं होता; क्योंकि एक ज्ञायकभाव में—स्वद्रव्य में कर्म व रागादि हैं ही नहीं, एक ज्ञायकभाव स्वयं सदा पर के सम्बन्ध से रहित ही है।

यही बात श्रीमद्‌रायचन्द्रजी ने इसप्रकार कही है कि दिगम्बर जैन आचार्यों ने ऐसा स्वीकार किया है कि ज्ञानी आत्मा को मोक्ष नहीं होता, किन्तु मोक्ष के सम्बन्ध में सच्ची समझ होती है। तात्पर्य यह है कि अबतक जो उसकी राग के साथ सम्बन्ध की स्वीकृति थी, उसमें

एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यामान्यता थी, वह मिथ्या है—ऐसा भान होने पर आत्मा मोक्षस्वरूप ही है, ऐसी सच्ची समझ हो जाती है। अहाहा....! आत्मा तो अन्दर में पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यघन प्रभु मुक्तस्वरूप ही है, अबंधस्वरूप ही है। १४-१५वीं गाथा में भी आया है कि "जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध पुट्ठं "भाई! आत्मा राग के बन्ध से रहित, अबद्ध स्पृष्ट मुक्तस्वरूप ही है; परन्तु अबतक अज्ञानदशा में ऐसा मानता था कि "मैं राग के सम्बंधवाला हूँ, वह दूर होने पर अब ऐसी श्रद्धा—प्रतीति हो गई है कि "मैं तो मोक्षस्वरूप ही हूँ।" मिथ्या संदेह दूर होते ही अभिप्राय में तो मोक्ष हो ही जाता है।

अब कहते हैं कि "मुझे कर्म का बन्ध है—सम्बन्ध है"—ऐसा संदेह या शंका मिथ्याभाव है। ज्ञानी को ऐसा संदेह नहीं होता। अहा! बंध के सम्बन्ध से रहित अबन्धस्वरूप चिन्मात्र वस्तु को जो देखता है, उसे बन्ध की शंका नहीं होती। पर्याय में राग का व नैमित्तिकभाव का सम्बन्ध है; परन्तु यह तो पर्यायबुद्धि में है—पर्यायदृष्टि में है। द्रव्यदृष्टि से तो पूर्णानन्द का नाथ चिन्मूर्ति प्रभु आत्मा अबद्ध ही है तथा ऐसे अबद्धस्वरूप का निःसंदेह अनुभव होने पर उसके बद्ध होने का संदेह—शंका—भय नहीं होता।

प्रश्नः- रागादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, यह तो ठीक; परन्तु संयोग सम्बन्ध तो है न?

समाधानः- अरे भाई! संयोग सम्बन्ध का अर्थ क्या? इसका अर्थ ही यह है कि ये संयोगीपदार्थ—कर्म या राग भगवान ज्ञायकस्वरूप, आनन्दस्वरूप आत्मा में हैं ही नहीं। अहा! आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा आनन्द की शक्ति से भरपूर सत्वमय तत्त्व है। यह तो यहाँ ज्ञान की अपेक्षा से या ज्ञान की प्रधानता से कथन किया है, इसकारण ज्ञायकभावमयत्व के कारण ऐसा कहा है। तथा यदि आनन्द की प्रधानता से देखें तो आत्मा एक आनन्दमयभाव है। उसका राग से या कर्म से सम्बन्ध है—ऐसी ज्ञानी को शंका नहीं होती।

अहा! पूर्णानन्द का नाथ नित्यानन्द सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा अभेद एक आनन्दमयभाव है, एक ज्ञायकमयभाव है, एक प्रभुतामय भाव

है। बापू! जिसके कुल में अनन्त-अनन्त आनन्द प्रगट हो, उसका उपाय भी अलौकिक ही होता।

यहाँ मिथ्यात्वादि में आदि शब्द से अविरति, कषाय व योग के परिणाम ग्रहण किये हैं। उनमें मूल तो मिथ्यात्व ही है।

प्रश्नः- तो क्या समकिती के उक्त चारों ही प्रत्ययों का अभाव है?

समाधानः- हाँ, चारों का ही अभाव है। मूल गाथा में ही कहा है न? कि जो "चत्तारिवि पाए छिंददि" अर्थात् जो मिथ्यात्वादि चारों ही पादों को छेदता है, वह निःशंकित सम्यग्दृष्टि है। उसमें विशेषता यह है कि एक ज्ञायकभावमयत्व की दृष्टि में राग का सम्बन्ध है तथा कर्म का सम्बन्ध है—ऐसी शंका करनेवाले मिथ्याभाव का ही अभाव है।

प्रश्नः- यहाँ चारों ही प्रत्ययों का जो अभाव कहा है, सो वह अभाव द्रव्य में है या पर्याय में?

समाधानः- भाई! पर्याय में अभाव है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग—इन चारों का ज्ञानी के अभाव है; क्योंकि उनमें से एक भी वस्तु पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा में नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दृष्टि में मिथ्यात्वादि चारों ही नहीं है। बापू! बहुत सूक्ष्मबात है। यह तो आचार्य ने केवली भगवान का पेट खोलकर रख दिया है। यह पहली निःशंकित अंग की गाथा बहुत ही ऊंची है। "मैं एक चैतन्यस्वरूप अबद्धस्पृष्ट मुक्तस्वरूप ही हूँ—जहाँ ऐसा भान हुआ, वहाँ "मैं बंधा हूँ" ऐसी शंका रहती ही नहीं है; क्योंकि वहाँ शंका उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्व का अभाव हो गया है।

प्रश्नः- सम्यग्दृष्टि के सिद्धदशा तो है नहीं, जब सिद्धदशा नहीं है तो फिर चारों प्रत्ययों का अभाव किस अपेक्षा से बताया है?

समाधानः- अरे भाई! ध्यान से सुनो—हाँ, उसे सिद्धदशा ही है, उसका आत्मा मुक्त ही है। अहाहा....! सम्यग्दृष्टि को तो आत्मा, दृष्टि व ज्ञान में मुक्तस्वरूप ही ज्ञात होता है जिसे मुक्तस्वरूप, सिद्ध समान शुद्धात्मा का आश्रय होता है, उसे ही पर्याय में सिद्धदशा प्रगट होती है।

यहाँ कुछ ऐसा विवाद भी करते हैं कि आप केवल निश्चय-निश्चय की बात करते हैं; जबकि कार्य व्यवहार से व निमित्त से भी तो होता है, उसकी चर्चा क्यों नहीं करते?

समाधान यह है कि अरे प्रभु! आत्मवस्तु तो पूर्ण चैतन्यस्वरूप शुद्ध वीतराग स्वरूप है। क्या उसे व्यवहार से या राग से वीतरागदृष्टि होती है? वीतराग दृष्टि का विषय तो अपनी परिपूर्ण वस्तु है, राग व निमित्त नहीं। राग की व निमित्त की दृष्टिवाले को तो चतुर्गतिरूप संसार ही फलता है।

प्रश्नः- ज्ञानी के अर्थात् अविरत समकिती के मिथ्यात्व सम्बन्धी भाव का अभाव होता है या चारों प्रत्ययों का अभाव हो जाता है?

समाधानः- भाई! ज्यों ही अपने त्रिकाली एक चैतन्य स्वभाव की ज्ञायकभाव की दृष्टि होती है, त्यों ही "मैं कर्म के सम्बन्धवाला हूँ" ऐसे मित्थाभाव का अभाव हो जाता है तथा स्वरूप में शंका उत्पन्न करनेवाले चारों ही भावों का उसकी दृष्टि में अभाव हो जाता है। जिसकी श्रद्धा में शुद्ध एक ज्ञायकस्वभावी पूर्ण प्रभु आत्मा की स्वीकृति हुई, उसके वे चारों ही कर्मबंध के प्रत्यय हैं ही नहीं। अहाहा....! कहते हैं कि जबतक यह पर्यायदृष्टि या मिथ्यादृष्टि था, अपूर्णदृष्टि था। पर्यायदृष्टि कहो या मिथ्यादृष्टि कहो या अपूर्णदृष्टि कहो—सब एक ही बात है। ज्ञानी की स्वभाव पर दृष्टि जाते ही उन सब विभावभावों रूप कर्मप्रत्ययों का अभाव हो जाता है। उसकी दृष्टि में वे चारों ही नहीं रहते। उसकी श्रद्धा का श्रद्धेय व ज्ञान का ज्ञेय तो एकमात्र त्रिकाली तत्व ही दृष्टिगत होता है। अतः उसकी दृष्टि में स्वरूप में शंका करनेवाले चारों भावों का अभाव हो जाता है।

यहाँ कहते हैं कि भाई! जिसको अपनी अल्पज्ञपर्याय में परिपूर्ण सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा की स्वीकृति हुई है, उसको उस स्वीकृति में मिथ्यात्वादि सभी का त्याग हो जाता है।

अहा! आत्मपदार्थ अनन्तगुणों का पिण्ड पूर्ण सत् है और शाश्वत् है। अहा! ऐसे शाश्वत् सत् को स्वीकार करनेवाली दृष्टि होने पर

मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है, शंका—भय आदि का अभाव हो जाता है! अहा! ज्यों ही अपने त्रिकाली मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा को प्रतीति में लिया, त्यों ही "मुझे कर्मबन्ध है" ऐसी शंका का अभाव हो गया, इससे ज्ञानी निःशंक है। ज्ञानी के निःशंकभाव से वर्तते हुए भी कदाचित् पूर्वकर्म का उदय होता है, परन्तु वह भी खिर जाता है, निर्जर जाता है और नवीन बंध नहीं होता। अहा! निजानन्दस्वरूप में लीन ज्ञानी को इन्द्र का इन्द्रासन भी निःसार लगता है। बस, यही आन्तरिक विरक्ति—आत्मरुचि उसकी निर्जरा का कारण है।

अरे भाई! पर्याय भले द्रव्य को स्वीकार करे, पर "मैं पर्याय में हूँ" यह भूल जा। अहा! यह देह तो नाशवान है, इसका तो क्षण भर में नाश हो जाता है। बापू! जिसप्रकार पानी का बांध टूटते देर नहीं लगती, उसीप्रकार यह देहादि के परकोटे को टूटते देर नहीं लगेगी। भाई! ये स्त्री-पुत्र परिवार व बाग-बंगला आदि सभी ऊपरी-ऊपरी चमक है, जो देखते-देखते विनष्ट हो जायगी।

समयसार गाथा २३०

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३०।।

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य : ।।२३०।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षः, ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।

अब निःकांक्षित गुण की गाथा कहते हैंः–

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता ।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना ।।२३०।।

गाथार्थः– [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**कर्मफलेषु**] कर्मो के फलों के प्रति [**तथा**] तथा [**सर्वधर्मेषु**] सर्व धर्मों के प्रति [**कांक्षां**] कांक्षा [**न तु करोति**] नहीं करता [**सः**] उसको [**निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टिः**] निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीकाः– क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी कर्मफलों के प्रति तथा समस्त वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से, निष्कांक्ष (निर्वांछक) है; इसलिये उसे कांक्षाकृत वन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः– सम्यग्दृष्टि को, समस्त कर्मफलों की वांछा नहीं होती; तथा सर्वधर्मों की वांछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की उसे वांछा नहीं है – उनके प्रति समभाव है, अथवा अन्यमतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तपक्षी

व्यवहार धर्मों की उसे वांछा नहीं है--उन धर्मों का आदर नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि वांछारहित होता है, इसलिये उसे वांछा से होने वाला बन्ध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती, इसलिये उसे मिटाने के उपचार की वांछा सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय के कारण होती है; किन्तु वह उस वांछा का कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है; इसलिये उसे वांछाकृत बन्ध नहीं होता।

गाथा २३० एवं उसकी पर प्रवचन

यह निःकांक्षित गुण की गाथा है। इसमें बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि को अपने टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयी आत्मतत्त्व की श्रद्धा होने से वह स्वयं 'ज्ञ' स्वभावी अर्थात् जानने-देखनेवाला होने से अपने में अपने से पर का कार्य नहीं करता तथा पर के द्वारा आत्मा में भी कोई कार्य नहीं होता। भाई! जाननेवाला भगवान आत्मा ज्ञ-स्वभावी है, ज्ञायकस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी प्रभु है । जिसको ऐसे निज आत्मतत्त्व की दृष्टि हुई, वह धर्मी सम्यग्दृष्टि है । टीका में 'चेतयिता' का अर्थ सम्यग्दृष्टि किया है । गाथा में भी 'चेतयिता' शब्द डालकर यही कहा है कि जो अपने को जानता है – चेतता है, वह ज्ञानी है। अरे भाई! उसे जो रागादि परद्रव्य को जानने-देखने वाला कहा है, वह सब तो व्यवहार से कहा है । जिसने अपने स्वस्वरूप को दृष्टि में व अनुभव में लिया है, वह धर्मी , सम्यग्दृष्टि है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सम्पूर्ण कर्मफलों के प्रति तथा सम्पूर्ण वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव वर्तता है। अतः वह निर्वांछक है।

'अहाहा! सम्यग्दृष्टि चैतयिता है, एक ज्ञायक भावमय है। वांछा नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति के फल की भी ज्ञानी के वांछा नहीं होती। अहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान आत्मा जहाँ जागृत हुआ, जहाँ उसे अपने निजस्वरूप का भान हुआ; वहाँ पर स्वरूप की वांछा कैसे रह सकती है?

अहो ! सम्यग्दर्शन कोई अपूर्व वस्तु है और वह एक ज्ञायकभावमय निज शुद्ध आत्मद्रव्य का आश्रय करने पर प्रगट होता है। अहा! निज ज्ञानानंदस्वरूप के आश्रय से जिसे अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ है, वह धर्मी – सम्यग्दृष्टि है और वही सुखी है; क्योंकि उसे सभी प्रकार के कर्मफलों की इच्छा नहीं रहती।

यहाँ यह क ; रहे हैं कि ज्ञानी के सभी कर्मफलों की तथा समस्त वस्तुधर्मों की कांक्षा नहीं है। यहाँ समस्त वस्तुधर्मों का अर्थ है हीरा

माणिक, मोती, सोना, चाँदी आदि समस्त धन-धान्यादि वैभव तथा समस्त कीर्ति प्रशंसा का भाव। इन सबकी वांछा ज्ञानी के नहीं है, क्योंकि उसके एक ज्ञायकभावमयता है। ज्ञानी निन्दा-प्रशंसा के भावों को मात्र परज्ञेय रूप से जानते हैं, ज्ञानी के कभी ऐसी वांछा नहीं है कि जगत में उसकी प्रशंसा हो।

अहा! धर्मी को अपने आनन्दमूर्ति आत्मप्रभु की भावना होने से पर की कांक्षा का अभाव है। ज्ञानी अपने ज्ञाता आनन्दस्वरूप स्वभाव का अभेदरूप से अनुभव करता हुआ पर की कांक्षा नहीं करता। स्वयं चेतयिता होने से वह अपने स्वरूप का ही संचेतन करता है और उसके सदैव स्वरूप की ही भावना वर्तती है, इससे भी उसके पर की कांक्षा का अभाव है। इसी का नाम यथार्थ निर्जरा है।

गाथा २३० के भावार्थ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि के समस्त कर्म के फलों की वांछा नहीं है। जिसने एक ज्ञायकभाव को जाना है, उसे वांछा होती ही नहीं है। स्वयं चेतयिता है न? भगवान आत्मा स्वयं सर्वज्ञस्वभावी है। पर्याय में जो सर्वज्ञता प्रगट होती है, वह सर्वज्ञता की पर्याय भी तो इसी सर्वज्ञस्वभाव में से आती है। यदि अन्दर में सर्वज्ञस्वभाव न होता हो पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट ही कहाँ से होती? अरे भाई! अन्दर आत्मा में जो त्रिकाल सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है, उसी में से यह सर्वज्ञदशा प्रगट होती है। सर्वज्ञ पर्याय अपरिमित अनंत-अनंत सामर्थ्य से भरे हुए सर्वज्ञस्वभाव में से आती है। अपरिमित सर्वज्ञस्वभाव में से आती है। अपरिमित सर्वज्ञस्वभाव की ऐसी सामर्थ्य है कि उसमें से अनंतकाल तक सर्वज्ञपर्याय की उत्पत्ति हरसमय होती ही रहती है। समकिती को अपने अंतर में ऐसे सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति हो गई है; इससे कहते हैं कि ज्ञानी को समस्त कर्मों के फलों की अर्थात् राजपद, देवपद, चक्रवर्तीपद व तीर्थंकर जैसे पदों की भी कांक्षा नहीं है।

मूल गाथा में दो बोल हैं– कम्मफलेसु व सव्वधम्मेसु अर्थात् समकिती को एक तो सर्व कर्मफलों की वांछा नहीं है और दूसरे सर्व धर्मों की वांछा भी नहीं है। यहाँ धर्मों से तात्पर्य पुद्गलस्वभाव से है, परवस्तु के अनन्तधर्मों से है। ज्ञानी परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त माध्यस्थ भाव से रहता है। कंचन हो या काँच, मणिरत्न हो या पाषाण, निन्दा के वचन हों या प्रशंसा के, परद्रव्य का कैसा भी परिणमन हो, उसमें ज्ञानी साम्यभाव रखता है, क्योंकि उसे परधर्मों की भी वांछा नहीं है और ये सब जड़पदार्थ पुद्गलस्वभावी हैं, परस्वभाव हैं; अतः परधर्म हैं।

ज्ञानी का परद्रव्य को जानना मात्र, ज्ञेयरूप से जानने मात्र का व्यवहार है। स्वरूप में सदा सावधान रहनेवाले ज्ञानी वस्तुतः परधर्मों की वांछा नहीं करते, उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं करते ।

अहा! जिसने अन्तर में अपनें ज्ञाननिधान को देख लिया है, अनंतगुणमय ज्ञान का खजाना देख लिया है; उसको अब पर में कुछ देखने लायक बचता ही नहीं है, फिर वह पर को देखे ही क्यों? धर्मी के निज ज्ञान में व प्रतीति में अनंत निधानस्वरूप सम्पूर्ण आत्मा आ गया है; अतः वह परधर्मों की वांछा नहीं करता। कहा भी है—

"प्रभु! तू सब बातें पूरा पर की आश कहा करे प्रीतम।
कई बातें तू अधूरा? प्रभु मेरे! तू सब बातें पूरा।।

जब आत्मा स्वयं ही अपने में परिपूर्ण पदार्थ है, चैतन्यनिधान व चैतन्यचिन्तामणि है, उसमें किसी बात की कोई भी कमी है ही नहीं, तो फिर वह पर की वांछा करे ही क्यों? और पर पदार्थ में ऐसा कुछ है ही कहाँ, जो आत्मा में नहीं है; अतः ज्ञानी पर की वांछा नहीं करते।

अहा! सम्यग्दृष्टि धर्मी प्रथम श्रेणी का जैन है। वह इन्द्र के इन्द्रासन को व चक्रवर्ती की सम्पदा को भी कागबीट के समान तुच्छ मानता है। वह सम्पूर्ण परद्रव्य की वांछा मे विरक्त हो गया है। अपनी निज सम्पदा के आगे उसे सम्पूर्ण परसम्पदा आपदा लगने लगी है । अतः वह अब चक्रवर्ती जैसे वैभव व इन्द्र जैसे भोगोपभोगों की भी वांछा नहीं करता । भाई! ऐसा जैनपना प्रगट होना कोई अपूर्व बात है । कुल से तो बहुत से जैन हैं, पर सच्चे जैनत्व की बात ही कुछ और है । निजस्वरूप के आश्रय से ही सच्चा जैनपना प्रगट होता है ।

यहाँ कहते हैं कि जिसे आत्मानुभव हुआ है, उसे पुद्गलस्वभाव की इच्छा नहीं है, उसे सब परद्रव्यों के प्रति समताभाव है। चाहे वह कनक हो या पाषाण, निन्दा के वचन हों या प्रशंसा के, यश हो या अपयश – सभी के प्रति ज्ञानी के साम्यभाव वर्तता है। अहा! ज्ञानी के पुण्य-पाप व पुण्य-पाप के फल में समभाव है; क्योंकि वह सबको पुद्गलस्वभाव मानता है। ज्ञानी सभी प्रसंगों में एक ज्ञाताभाव से रहता है। किसी भी परवस्तु की वांछा नहीं करता।

यहाँ विशेष बात यह है कि ज्ञानी के अन्य मतावलम्बियों द्वारा माने गये विविध धर्मों के प्रति भी श्रद्धा नहीं होती, क्योंकि उनके द्वारा माने गए धर्म सर्वथा ऐकान्तिक हैं। कोई तो ईश्वर की भक्ति को ही धर्म

मानते हैं, कोई पुण्यकर्म आदि व्यवहार कार्यों के करने में धर्म मानते हैं, कोई दया-दान, तीर्थयात्रा, व्रत-उपवास आदि बाह्य क्रियाओं में धर्म जैनों में भी अधिकाश व्यक्ति दया-दान, व्रततप, भक्तिपूजा आदि बाह्य क्रियाकाण्ड से ही धर्म मानने वाले एकांत व्यवहारी-अज्ञानी हैं, क्योंकि वे केवल बाह्य क्रिया करने में ही धर्म मान बैठे हैं, वे राग से भिन्न भगवान आत्मा को नहीं जानते। अन्यमतावलम्बी एकान्ती लोकिकदृष्टि से कितने भी महान क्यों न हों, त्यागी-तपस्वी क्यों न हों, भले सारा जगत उसकी जय क्यों न बोलता हो? अथवा देवगण भी भले उसकी सेवा पूजा करते हो; तथापि वे धर्म से अछूते हैं, उन्हें सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होगी, वे दुखी ही हैं। ज्ञानी के लौकिक सुख की भी वांछा नहीं है, क्योंकि उसे सच्चे सुख की प्राप्ति हो गई है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि वांछारहित होनें से उसे वांछाजनित बन्ध नहीं होता। कहते हैं कि धर्मी को एक ज्ञायकभावमय निज आत्मा का आदर हुआ है, उसे अतीन्द्रियआनन्द का अनुभव होने से मात्र एक चैतन्यभाव का ही आदर है। अनादि से अबतक अज्ञानभाव के कारण केवल पर्याय का ही आदर था, परन्तु अब आत्मसन्मुखता के सम्यक्-पुरुषार्थ से एक ज्ञायकभावमय पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है। अतः अब वह अतीन्द्रिय आनन्द की भावना को छोड़कर पर व पर्याय में राग कैसे कर सकता है ? इसप्रकार धर्मी वांछारहित हुआ है, इसलिये उसे पर की वांछा से हुआ बंध नहीं होता। उसे तो तत्संबंधी कर्मों की निर्जरा ही है।

ज्ञानी के राग के कर्तृत्व की भावना नहीं है, तथा व्यवहार रत्नत्रय के करने की भावना भी नहीं है। भाई! राग तो दुःख है, विभाव है, जिसको निर्मलस्वभाव की दृष्टि हुई है, वह विभाव की भावना कैसे कर सकता है? वह विभाव का कर्ता कैसे हो सकता है?

यद्यपि धर्मी के भी वांछा व बाह्यप्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु वह उस वांछा का कर्ता नहीं होता, वह उसे कर्म की उदयजनित परिणति जानकर उसका भी ज्ञाता रहता है। सम्यग्दृष्टि धर्मी कहते ही उसे हैं, जो इच्छा का कर्ता नहीं होता। इच्छा रागभाव है, विभावभाव है और विभाव दुखरूप होता है, अतः ज्ञानी उस राग का कर्ता कैसे हो सकता है? धर्मी तो निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन करनेवाला व अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भोगनेवाला है । अतः वह विभाव का कर्ता नहीं होता।

अहा! महाव्रतादि का परिणाम भी राग है, दु:ख है, इसकारण धर्मी को तो उसकी भी वांछा नहीं है; परन्तु वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण चारित्रमोह के वश से उसके भी राग उत्पन्न होता है, पर वह उसका मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है । धर्मी को इन्द्र के इन्द्रासन का संयोग भी हो जावे तो वह उसकी भी वांछा नहीं करता। जव पूर्ण आनन्दमय चैतन्यनिधान दृष्टि में आ गया तो फिर अन्य की वांछा क्यों होगी? स्वरूप में नि:शंकता होने पर,पर की वांछा रहती ही नहीं है। कदाचित् धर्मी के किंचित् वांछा हो जावे तो पर पर की वांछा रहती ही नहीं है। कदाचित् धर्मी के किंचित् वांछा रहती ही नहीं है । कदाचित् धर्मी के किंचित् वांछा हो जावे तो वह उसका कर्ता नहीं हो जाता, वह तो उस वांछः को कर्म का उदय जानकर मात्र उसका ज्ञाता ही रहता है। इसकारण उसके वन्ध नहीं होता। यह दूसरे नि:कांक्षित अंग की बात हुई।

अहा! धर्मी को अपने पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप में नि:शंकता है, अत: उसको अपने स्वरूप के लक्ष्य से अपनी अपूर्णता व राग के सम्वंध में संदेह मिट गया है। तथा निजस्वरूप के आश्रय से ही पर्याय में आनन्द व वीनरागता आती है – ऐमी दृढ़ प्रतीति से धर्मी पूर्णतया निरवांछक हो जाता है।

देखो, नि:शंकित भाव में ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण वीतरागस्वरूप, पूर्ण प्रभुतास्वरूप एवं पूर्ण स्वच्छतास्वरूप हूँ तथा ऐसे निजस्वरूप में एकाग्रता होने से ही पूर्ण दशा प्रगट होती है। धर्मी को स्वानुभव में ऐसी नि:संदेह दशा प्रगट हो जाती है – इसकारण वह नि:शंक है।

दूसरे नि:कांक्षित गुण में ऐसा आया है कि जव मैं स्वयं अपने से परिपूर्ण हूँ तो मुझे अन्य पदार्थ की क्या अपेक्षा है? मुझे अन्य पदार्थो से क्या प्रयोजन है?

इसप्रकार अपनी परिपूर्णता के भान से धर्मी को परपदार्थ की वांछा का अभाव हो गया है। 'मैं परिपूर्ण ही हूँ' – ऐसी परिपूर्ण की भावना में धर्मी को पुण्य व पुण्य के फल के प्रति तथा अन्य वस्तुओं के प्रति पर्ण नि:कांक्षभाव होता है। यह सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग है।

समयसार गाथा २३१

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३१।।

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
सो खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३१।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साभावान्निर्विचिकित्सः, ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।

अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं:—

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्तमूर्ति निर्विचकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना।।२३१।।

गाथार्थ:— [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**सर्वेषाम् एव**] सभी [**धर्माणाम्**] धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति [**जुगुप्सां**] जुगुप्सा (ग्लानि) [**न करोति**] नहीं करता [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चय से [**निर्विचिकित्सः**] निर्विचिकित्स (-विचिकित्सादोष से रहित) [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीका:— क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से, निर्विचिकित्स (-जुगुप्सारहित — ग्लानिरहित) है; इसलिये उसे विचिकित्साकृत बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :— सम्यग्दृष्टि वस्तु के धर्मों के प्रति (अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भावों के प्रति तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्यों के प्रति) जुगुप्सा नहीं करता। यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्म प्रकृति का उदय आता है तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता, इसलिये उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता; परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिये निर्जरा ही होती है।

गाथा २३१ एवं उसकी टीका और भावार्थ पर प्रवचन

देखा, जिसको अपने स्वद्रवय को छोड़कर परपदार्थों की अभिलाषा है, उसे अपने एक शुद्ध परिपूर्ण आत्मद्रव्य के स्वरूप में संदेह है, अविश्वास है, इसकारण वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिसने परद्रव्य की रुचि त्यागकर एक परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी, शुद्धात्मद्रव्य में रुचि व एकाग्रता की है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को अपने पूर्ण स्वरूप में संदेह नहीं होता, इसी कारण उसे परद्रव्य की वांछा भी नहीं होती।

अहा ! समकिती को जिसप्रकार शंका व कांक्षा नहीं होती, उसीप्रकार उसे परपदार्थ अनुकूल व प्रतिकूल प्रतीत भी नहीं होते, अतः उसे पर में ग्लानि या द्वेषभाव रूप जुगुप्सा नहीं होने से, उसे तीसरा निर्विचिकित्सा गुण होता है – यह बात इस गाथा में कही गई है।

अहा ! सम्यग्दृष्टि के टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावत्व के कारण सभी प्रकार के वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से निर्विचिकित्सा गुण होता है । भले ही दुर्गन्धमय अशुचि शरीर हो या विस्टा (मल)आदि दुर्गन्धमय पदार्थ हो या निन्दा के कठोर वचन हों, उन सबके प्रति ज्ञानी को द्वेष नहीं होता, ग्लानि नहीं होती। अहा ! सम्यग्दृष्टि के सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव है। वह जानता है कि दुर्गन्धादि पदार्थ तो जड़ के हैं, जड़ में हैं। वे आत्मा में हैं ही कहाँ? आत्म तो पूर्ण आनन्द व ज्ञान का घनपिण्ड है। ऐसा जानने से ज्ञानी के सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा नहीं होती। इसलिये ज्ञानी के विचिकित्साकृत बन्ध नहीं है, बल्कि निर्जरा ही है।

अहा ! ज्ञानी विचिकित्सारहित है। नरकों में चाहे जितनी प्रतिकूलता क्यों न हो, तो भी ज्ञानी के दुर्वांछा व द्वेष नहीं होता। चारित्रमोह वश अपनी पुरुषार्थ की कमजोरी से जो थोड़ा-बहुत भाव हो जाता है, पर वह उन भावों का कर्ता नहीं होता; इसलिए ज्ञानी के द्वेष नहीं होता, विचिकित्सा नहीं होती। इसकारण उसे विचिकित्साकृत बंध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

सम्यग्दृष्टि भूख-प्यास, शीत-उष्ण, सुगंधित-दुर्गंधित पदार्थों में कर्णकटु व कर्णप्रिय वचनों में राग-द्वेष नहीं करता – विचिकित्सा नहीं करता। देखो, देह की ऐसी रुग्ण व मलिन स्थिति देखकर भी ज्ञानी को उसके प्रति द्वेष नहीं होता। जिसे तीन लोक के नाथ चिदानन्द प्रभु आत्मा का भान हुआ है, उस धर्मी जीव को शरीरादि दुर्गंधित पदार्थों में विचिकित्सा नहीं होती।

अरे भाई! वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण जो किंचित् ग्लानि का भाव आता है, धर्मी उसका भी कर्ता नहीं वनता तथा उसे वह रुचिकर भी नहीं लगता।

यहाँ यही बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यद्यपि ज्ञानी के जुगुप्सा नाम की कर्मप्रकृति का उदय आता है, तथापि वह उसका कर्ता नहीं होता, इससे वह कर्म उदय में आकर निर्जर जाता है।

देखो, ज्ञानी को कर्मप्रकृति के उदय के जुड़ान में थोड़ा-सा अस्थिरता का भाव हो जाता है; परन्तु वह उसका कर्ता या स्वामी नहीं होता, वह तो उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है; क्योंकि उसे अपना ज्ञायकभाव भासित हो गया है। इसकारण उसे जुगुप्साकृत वन्ध नहीं होता।

देखो न! शास्त्र में कथन आता है कि राजा ने मुनिवरों को घानी में पेल दिया था। अहा! वह काल कैसा होगा ? राजा ने हुक्म दिया कि मुनियों को घानी में पेल दिया जाय, तो भी शान्तरस में लीन मुनिवर परमशान्त रहे। उन्होंने राजा के प्रति द्वेष नहीं किया।

अहा! मुनिराज तो महान पवित्रात्मा थे, परन्तु जिनमत से द्वेष रखनेवालों ने ऐसा दुष्कृत्य कराया था। उन्होंने राजा के मन में जैन मुनियों के प्रति द्वेष उत्पन्न करने के लिए छल करके किसी साधारण व्यक्ति को नग्न दिगम्बर जैन साधु का नकली वेष वनाकर उस नकली साधु के द्वारा रानी के साथ दुर्व्यवहार कराया और उधर राजा से जाकर कहा कि देखिये ! यह जैन साधु है, जो रानी के साथ ऐसा दुर्व्यवहार कर रहा है। जब राजा ने स्वयं उस साधु वेषधारी व्यक्ति को प्रत्यक्ष दुर्व्यवहार करते देखा तो उन्हें यह विश्वास हो गया कि ये सभी जैन साधु ऐसे ही हैं, अतः उन्होंने आगा-पीछा न विचारकर सभी साधुओं को घानी में पेलने का हुक्म दे दिया।

अहा! जव ऐसा प्रसंग आया, तव भी वीतराग रस के रसिक वे साधु निजानन्दरस में मग्न हो ध्यानस्थ हो गये। उन्हें घानी में पेलनेवाले राजा के प्रति भी द्वेष नहीं हुआ। यही ज्ञानी का सच्चा निर्विचिकित्सा अंग है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव है, द्वेष का अभाव है। अस्थिरतावश कदाचित् किसी प्रकृति के उदय में कदाचित् थोड़ा-वहुत द्वेष आता भी है, तो भी उसे उसका कर्तृत्व नहीं होने से उसे वन्ध नहीं होता, किन्तु प्रकृति उदय में आकर खिर जाती है तथा अशुद्धता का भी अभाव होकर उसे निर्जरा ही होती है।

समयसार गाथा २३२

जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३२।।

यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढ़दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ।।२३२।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहभावादमूढदृष्टिः, ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बन्धः, किंतु निर्जरैव ।

अव अमूढ़दृष्टि अंग की गाथा कहते हैं:—

संमूढ नहिं सब भाव में जो, सत्यदृष्टी धारता ।
वो मूढदृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना ।।२३२।।

गाथार्थः— [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**सर्वभावेषु**] समस्त भावों में [**असंमूढः**] अमूढ़ है — [**सद्दृष्टिः**] यथार्थ दृष्टिवाला [**भवति**] है, [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चय से [**अमूढदृष्टिः**] अमूढदृष्टि [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :— क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी भावों में मोह का अभाव होने से, अमूढदृष्टि है, इसलिये उसे मूढदृष्टिकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है; उसे रागद्वेषमोह का अभाव होने से किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों, तथापि उसे उदय की बलवत्ता जानकर वह उन भावों का स्वयं कर्ता नहीं होता; इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है। इसलिये निर्जरा ही होती है।

गाथा २३२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अहा! छठवीं गाथा मे भी आता है कि 'मैं एक ज्ञायकभाव हूँ' यहाँ भी यही कह रहे हैं कि धर्मी की दृष्टि एक ज्ञायक भाव पर ही रहती है, उसकी पर्यायदृष्टि उड़ गई है । बाह्य धनादिक का अनुकूल संयोग तो पुण्य के उदय से महापापी प्राणियों के भी होते देखा जा सकता है, यह कोई धर्म का फल या धर्मात्मा होने की पहचान नहीं है। अमेरिका में एक व्यक्ति का डेढ़ माइल के एरिया में बहुत बड़ा पशु काटने का कारखाना है और वह बहुत धनाड्य है। अतः पूर्व पुण्य के योग से पापी भी वर्तमान में साधन सम्पन्न होता है। देखो, मिथ्यादृष्टि जीवों का भी हाथी पर बिठाकर सत्कार होते देखा जाता है और धर्मात्मा के भी कदाचित् पाप का उदय आ जावे तो उसका भी अनादर हो जाता है। ये सब काम तो पुण्य-पाप के फल हैं, इनसे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, धर्मात्माओं के भी पुण्य का उदय होता है – यह बात जुदी है।

श्री नियमसार की गाथा १८६ में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान ने ऐसा कहा है कि हे भाई! तू वीतरागस्वरूप की दृष्टिवाला धर्मात्मा है। यदि कोई तेरी निन्दा करे तो जिनमार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना।

ज्ञानी के देव-गुरु-धर्म आदि किसी में भी मूढ़ता नहीं होती। केवली भगवान को ऐसा केवलज्ञान है, जो एक समय में तीनकाल व तीनलोक के अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जानता है, एकसमय में होने वाले अनन्त द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को एकसाथ जानता है।

श्री समन्तभद्राचार्य के वृहत्स्वयंभूस्तोत्र के ११४ वें श्लोक में कहा है कि प्रभु ! तेरी सर्वज्ञता का स्वरूप हमने जाना है। तेरी एकसमय की ज्ञानपर्याय में जगत के अनन्त द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जाने जाते हैं। अहा ! आपने सर्व अनन्त पदार्थों को जाना है, इसलिए आप सर्वज्ञ हो, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। सर्वज्ञता का निर्णय करनेवाला हमारा आत्मा स्वयं सर्वज्ञस्वभावी है। हमें हमारे स्वरूप में – सर्वज्ञस्वभाव में किंचित् भी शंका या मूढ़ता नहीं है।

अहा ! आचार्यदेव ने 'सव्व भावेसु अर्थात् सब भावों में तथा सव्व धम्मेसु अर्थात् सब धर्मों में' आदि कहकर पूर्णता की बात कह दी है। अहा ! जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभावी प्रभु आत्मा को जाना है व अनुभव किया है, उसे ज्ञानस्वभाव में कोई शंका नहीं रहती।

भले ज्ञान का क्षयोपशम कम-ज्यादा हो, इससे ज्ञानी-अज्ञानी का माप नहीं है। ज्ञानी के ज्ञान का क्षयोपशम कम व अज्ञानी के अधिक हो सकता है, पर इससे कोई अन्तरं नहीं पड़ता; क्योंकि करनेयोग्य तो एकमात्र ज्ञायकभाव की दृष्टि एवं ज्ञायकस्वभाव में स्थिरता ही है। प्रवचनसार गाथा ३३ में भी यह बात आ चुकी है। वहाँ कहा है कि 'विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो, ज्ञानी तो सदा स्वरूप में ही स्थिर रहते हैं।' तात्पर्य यह है कि जिसे अखण्ड एक ज्ञायक की प्रतीति हुई है, वह ज्ञान के हीनाधिक क्षयोपशम से प्रभावित नहीं होता। वह तो स्वरूपस्थिरता का पुरुषार्थ करता है।

धर्मी कहते ही उसे हैं, जिसने एक ज्ञायकभावमय पूर्णानन्द प्रभु आत्मा का अनुभव किया है। अहा! 'आत्मा स्वयं सदा ही अकषाय स्वभावी पूर्ण वीतरागस्वभावी है।' जिसको ऐसी प्रतीति हुई है, वह धर्मी है। ऐसे धर्मी को जगत में किसी भी पदार्थ में मूढ़ता नहीं होती। धर्मी पर से अत्यन्त निर्पेक्ष होते हैं, उन्हें ऐसा विचार भी नहीं आता कि 'देखो! हम जैसे धर्मात्माओं को माननेवाले तो जगत में अत्यल्प हैं और झूठे — नामधारी धर्मवेषियों को माननेवाले अधिक है।' जगत की पूज्यता या आदर सत्कार तो यशस्कीर्तिकर्म के आधीन है; जगत में तो अधर्मियों की ही वहुलता होती है।

भाई! मोक्ष का मार्ग तो लौकिकमार्ग से सर्वथा भिन्न अलौकिक ही है। अहा! देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा अनन्तगुणों का सागर सदा एक ज्ञायकभावरूप से विराजमान है। जिसने अपने अन्तर में उसका आदर करके उस पर दृष्टि स्थापित की है, वह धर्मी—सम्यग्दृष्टि है।

ऐसे सम्यग्दृष्टि को मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं है, परन्तु निर्जरा ही है। देखो, क्षायिक समकिती श्रेणिक राजा को समकित होने के पहले नरक आयु की वन्ध हो गया, अतः वह वर्तमान में समकिती होते हुए भी नरक में है। इसके विपरीत अन्य कोई अनन्त संसारी अभव्य जीव पंचमहाव्रतादि का निरतिचार पालन करके शुक्ल लेश्या से नवमें ग्रैवेयक तक चला जाता है। पर इससे क्या? यह तो तत्समय की पर्याय की योग्यता है। ज्ञानी ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप जानने से नरक के संयोग में भी दुःखी नहीं होता, मूढ़ भी नहीं होता। इसकारण उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

गाथा २३२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, सम्यग्दृष्टि पुण्य, पाप, निमित्त, संयोग आदि जगत के प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानते हैं। वस्तुतः जिसने एक आत्मा के स्वरूप को जान लिया, वह सर्व पदार्थों के स्वरूप को स्वतः जान लेता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि में ऐसी शक्ति प्रगट हो जाती है।

यहाँ भगवान कहते हैं हे भगवान आत्मा! तुझे पुण्य से क्या काम? एक ज्ञायक की दृष्टि में जब किसी भी पर्याय का प्रयोजन नहीं रहा तो पुण्य से भी क्या प्रयोजन? यह बात तो पहले भी आ ही गई है कि – ज्ञानी पुण्य की इच्छा नहीं करता। ज्ञानी को भी दया, दान, व्रत भक्ति आदि का शुभभाव आता तो अवश्य है, परन्तु वह पुण्य की इच्छा नहीं करता। ज्ञानी को तो एक ज्ञायकभाव से ही प्रयोजन है। अहा! जिसको वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा से भेंट हो गई है, वह राग की इच्छा नहीं करता। पुण्यभाव से उसे कोई प्रयोजन नहीं है उसे तो एक ज्ञायकभाव से ही प्रयोजन है। अहा! जिसे वीतराग स्वभावी भगवान आत्मा से भेंट हो गई है, वह राग कैसे चाह सकता है? अहा! अपने स्वरूप में निःशंक प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञानी जगत के प्रत्येक पदार्थ की स्थिति को यथार्थ रूप से जानता हे, अतः वह उनमें मोह नहीं करता।

देखो भाई! श्रुतज्ञान में भी सर्वपदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानने की सामर्थ्य है, उसकी जहाँ तक पहुँच है, उन सबको वह यथार्थ जान लेता हे। अतः ज्ञानी को परपदार्थो में मूढ़ता नहीं रहती। अहा! जिसने एक ज्ञायक को यथार्थ जाना उसने सभी को यथार्थ जान लिया, क्योंकि उनको सभी ज्ञान यथार्थ हो गया है।

अहा! देखो, यहाँ तो यह कह रहे हैं कि – सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है। किसी को यह आशंका हो सकती है कि क्या सम्यग्दृष्टि को इतना अधिक ज्ञान हो सकता है कि जिससे सर्व पदार्थों का यथार्थ स्वरूप भासित हो जावे? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि हाँ भाई! श्रुतज्ञान में सर्व पदार्थों के स्वरूप को जानने की सामर्थ्य है। इसीकारण समकिती को पर पदार्थों की समझ में मूढ़ता नहीं रहती। अहा! जिसने एक ज्ञायक को यथार्थ जाना, उसने सबको यथार्थ जान लिया; क्योंकि उसका सम्पूर्ण ज्ञान यथार्थ हो गया है।

अहो! आत्मज्ञान की महिमा अपरंपार है। देखो, कोई अबतक भले महापापी रहा हो, तो भी वह उग्र पुरुषार्थ द्वारा पाप के त्यागपूर्वक स्वरूप

में स्थित हो केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है और अन्य कोई धर्मात्मा के रूप में लाखों वर्षो तक व्यवहार चारित्र का पालन करते हुए भी सम्यक् पुरुषार्थ के अभव में मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता। ज्ञानी *परपदार्थो में मूढ नहीं होता, अटकता भी नहीं है; क्योंकि उसे तो एक* ज्ञायकभाव का ही अवलम्बन है। पर्याय की स्थिति तो उस समय की पर्याय की योग्यता से ही होती है। – ऐसा वह यथार्थ जानता है। इसीकारण वह पर्यायमूढ़ नहीं होता।

बापू! क्या आत्मा सम्यगज्ञान में ज्ञात नहीं होता? अरे भाई! तू इसकी महिमा से परिचित नहीं है। अहा! ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है कि नहीं? अरे! सम्यक् श्रुतज्ञान व केवलज्ञान में मात्र परोक्ष व प्रत्यक्ष का ही अन्तर है। स्वपर के जानने में कोई फर्क नहीं है। श्रुतज्ञान की सामर्थ्य स्वरूप से ही स्वपर को जानने की है। श्रुतज्ञान कोई साधारण या वलहीन ज्ञान नहीं है।

अव कहते हैं कि ज्ञानी के रागद्वेषमोह का अभाव होने से उसकी किसी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। उसकी पर में मूढ़दृष्टि नहीं रहती, क्योंकि उसके श्रद्धा सम्वन्धी रागद्वेषमोह का अभाव है। अतः वह पर पदार्थो को इष्टअनिष्टरूप नहीं देखता।

यद्यपि चारित्र मोहोदय के निमित्त से परपदार्थों में किंचित् इष्टानिष्टपना उत्पन्न होता है, किन्तु वह उसे अपने पुरुषार्थ की कमजोरी व उदय का बलवापना जानकर उन भावों का कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसकारण उसे मूढ़दृष्टिकृत कर्मबन्ध नहीं होता। तथा उदय में कोई कर्मप्रकृति रस देकर खिर जाने से निर्जरा ही होती है।

ज्ञानी उन भावों का कर्ता नहीं होता, उसका उन भावों में स्वामित्व भी नहीं है, अतः उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं होता। बल्कि निर्जरा ही होती है।

समयसार गाथा २३३

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३३।।

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणम्।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३३।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्यबल्यकृतो नास्ति बंधः, कि तु निर्जरैव।

अब उपगूहन भुज की गाथा कहते हैं –

जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करें सब धर्मका।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टि जानना।।२३३।।

गाथार्थ :– [यः] जो (चेतयिता) [सिद्धभक्तियुक्तः]सिद्धों की शुद्धात्मा की भक्तिसे युक्त है। [तु] और [सर्वधर्माणाम् उपगूहनकः] पर वस्तुओंके सर्व धर्मोंको गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावों में युक्त नहीं होता) [सः]उसको [उपगुहनकारी] उपगूहन करनेवाला [सम्यग्दृष्टि] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः.] जानना चाहिये।

टीकाः– क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण स मस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करता है, इसलिये उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिये उस जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे (मन्दतासे) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः–सम्यग्दृष्टि उपगूहनगूण युक्त है। उपगूहनका अर्थ छिपाना है। यहाँ निश्चयनको प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टिने

आपना उपयागे सिद्धभक्तिमे लगाया हुआ है, और जहाँ उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया वहाँ अन्य धर्मो पर दृष्टि ही नहीं रही इसलिये वह समस्त अन्य धर्मो का गोपनेवाला और आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है।

इस गुणका दूसरा नाम 'उपवृंहण' भी है। उपवृंहणका अर्थ है बढ़ाना। सम्यग्दृष्टिने अपना उपयोग सिद्धोंके स्वरूपमे लगाया है इसलिये उसके आत्मा की समस्त शक्तियाँ बढ़ती हैं– आत्मा पुष्ट होता है इसलिये वह उपवृंहणगुणवाला है।

इमप्रकार सम्यग्दृष्टिके आत्मशक्तिकी वृद्धि होती है इसलिये उसे दुर्वलतासे जो वन्ध होता था वह नहीं होता था वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है। यद्यपि जवतक अन्तरायका उदय है तवतक निर्वलता है तथापि उसके अभिप्रायमें निर्वलता नही है, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार कमोदयको जीतनेका महान् उद्यम वर्तता है।

गाथा २३३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ इस गाथा में कहते हैं कि जिसको पूर्णानंदस्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, अपने अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है, वह सम्यग्दृष्टि है। उसकी दृष्टि में सदैव एक ज्ञायकभाव ही मुख्य होने से वह समस्त आत्मशक्तियों का विकास करता है, उनमें वृद्धि करता है। सम्यग्दृष्टि सिद्धभक्ति से युक्त होता है और सिद्धभक्ति शुद्धात्मा की एकाग्रतारूप है। भगवान आत्मा पूर्णज्ञान, पूर्णआनन्द, पूर्णआनन्द, पूर्णशन्ति, पूर्णस्वच्छता आदि अनन्त पूर्ण स्वभावों से भरा हुआ शुद्ध सिद्ध परमेश्वर वत् ही है।

यद्यपि समकिती सिद्धभक्ति करता है, परंतु सिद्ध परमात्मा के माध्यम से वह अपने अन्दर जो शुद्ध चैतन्यमय सिद्धस्वरूप परमात्मतत्व विद्यमान है, उस निर्विकल्पस्वरूप निजतत्व का ही भजन करता है, अनुभव करता है। वही वास्तविक परमार्थ सिद्धभक्ति है। सिद्ध भगवान की भक्ति तो रागरूप विकल्प होने से व्यवहार भक्ति है, वास्तविक भक्ति नहीं।

देखो, पिछली गाथाओं में "चेदा" – "चेतयिता" शब्द आये थे, यहाँ तो सीधा "सिद्ध भत्तिजुत्तो" वाक्य कहा गया है। "चेदा" – चेतयिता भी एक ज्ञायकभावमय है और समकिती भी अपने शुद्ध चैतन्यमय, एक ज्ञायकभावमय स्वरूप में ही एकाग्रतायुक्त है, वस्तुतः समकिती की वह स्वरूप एकाग्रता ही परमार्थ सिद्धभक्ति है। यहाँ

सिद्धपद में विराजमान पर सिद्धभगवान की भक्ति की बात नहीं है; क्योंकि वह भक्ति तो व्यवहाररूप है और यह बात अपने ज्ञायकस्वरूपमय प्रभु आत्मा में एकाग्र होने व उसी में स्थित रहने, लीन होनेरूप निश्चयभक्ति की बात है। यह भक्ति ही शुद्धि की वृद्धि का अद्भुत मांगलिक कार्य है।

पूजन में आता है कि "चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पर मेरो।"

अहाहा---! भगवान आत्मन् ! यद्यपि तेरी पर्यायर में अभी सिद्धपना नहीं है, परंतु द्रव्यस्वभाव से तो तू सिद्धस्वरूप या सिद्ध समान ही है। यदि स्वभाव से सिद्धस्वरूप न हो तो पर्याय में सिद्धत्व कहाँ से प्रगट हो? जो स्वभाव में विराजमान होता हे, वही तो पर्याय में प्रगट होता है, इसलिए तू परमार्थ से तो सिद्ध स्वरूप ही है।

ऐसे अपने त्रिकाली सिद्धस्वरूप में एकाग्रता-लीनता-स्थिरता करता हुआ समकिती क्षणक्षण में अपनी अनंत शक्तियों की शुद्धि में वृद्धि करता है और उस वृद्धि का होनां ही यथार्थ निर्जरा है। संवर में जो शक्तियों में आंशिक निर्मलता प्रगट हुई थी, यहाँ उस निर्मलता या शुद्धि में अन्तर रमणता द्वारा वृद्धि करता है।

आचार्य कहते हैं कि 'एक ज्ञायकभावपने के कारण समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धिका कर्ता होने से' ज्ञानी उपवृहण अंग का धारी है अर्थात् आत्मशक्तियों का बढ़ानेवाला है। जो आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं – अनंतगुण हैं, उन सबका अंश सम्यग्दर्शन के साथ ही प्रगट हो जाता है। श्रीमद् राजचंदजी ने कहा है – "सर्वगुणाशं ते सम्यक्त्व"। पश्चात् अन्तर एकाग्रता द्वारा उन समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करनेवाला होने से वह उपवृंहण अर्थात् आत्मशक्तियों का बढ़ानेवाला है।

जिसप्रकार धनपति धन का व्यापार करके धन को बढ़ाता है, उसीप्रकार समकिती भी अपने अन्दर में प्रगट हुए आत्मधन की शुद्धि में वृद्धि करके आत्मशक्तियों को बढ़ाता है। भगवान आत्मा में आकाश के अनन्त प्रदेशों से भी अनन्तगुणी शक्तियाँ हैं। वैसे शक्ति का अर्थ गुण भी है और एक गुण में अनन्त शक्ति (सामर्थ्य) है, पर यहाँ संख्या की अपेक्षा शक्तियों की बात की चर्चा है। ज्ञानी उन शक्तियों की निर्मलता को अंत:क्रिया के द्वारा बढ़ाता है।

देखो, यहाँ यह नहीं कहा कि उपवास करके शुद्धि में वृद्धि करता है, वरन् यह कहा कि अपने एक ज्ञायकभाव में वर्तता हुआ आत्मशक्तियों

की शुद्धि में वृद्धि करता है। टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावपने के कारण कहकर अन्य व्रतउपवासादि बाह्यकारणों से शुद्धि की वृद्धि होने से निषेध किया है। शुद्धि की वृद्धि का अर्थ अस्ति से निर्जरा होना ही हे। उसीसमय जो अशुद्धता का नाश होना व कर्मों का खिरना होता है– वह नास्ति से निर्जरा है। उपवास का भी वास्तविक अर्थ यही है – "आत्मनः समीपे उपवसति इति उपवासः" अर्थात् आत्मा के समीप में बसना-रहना ही वास्तविक उपवास है और वही तप है। उस तप से ही निर्जरा होती है।

अव कहते हैं कि समकिती के सम्यग्दर्शन के साथ शुद्धता तो प्रगट हो चुकी है और उसमें अन्तर एकाग्रता के व्यापार द्वारा वह वृद्धि भी करता है। निरन्तर अतीन्द्रिय आनंदरूपी धन की वृद्धि करता रहता है। इसलिए कहते हैं कि दुर्वलता के कारण अबतक जो वंध होता था, अव वह नहीं होता। अहाहा! आत्मशक्तियों का बढ़ानेवाला होने से उसे दुर्वलताजनित वंध नहीं होता तथा वह दुर्वलता भी क्रमक्रम से नष्ट हो जाती है।

भगवान! तुझे तेरे अन्तःतत्व की महिमा की खबर नहीं है। जिसतरह स्वर्ण में कीट (मैल) नहीं लगती, उसीतरह कर्म की तो बात ही क्या, अशुद्धता भी तेरे आत्मा का स्पर्श नहीं करती – ऐसा चैतन्यमूर्ति एक ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा तेरे अन्दर में सदा विद्यमान है। जिसको उस आत्मा की पहिचान हो गई, उसे सम्यग्दर्शन व अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हो जाता है। तथा उसी की अन्तरएकाग्रता के अभ्यास से अन्तर में ऐसी आत्मशक्ति व सिद्धभक्ति प्रगट हो जाती है, जिसकी चर्चा ऊपर कर आये हैं।

अहा! आत्मशक्ति में ऐसी वृद्धि होती है कि उससे दुर्बलता व अशुद्धता धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है और उससे उसका दुर्बलताकृत बंध तो होता ही नहीं है, साथ ही निर्जरा भी होती है। बस इसी का नाम यथार्थ निर्जरा व धर्म का प्रगट होना है। और यही यथार्थ सिद्धभक्ति है।

गाथा २३३ के भावार्थ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि उपगूहन गुण सहित है। उपगूहन अर्थात् छुपाना-गुप्त रखना। यहाँ निश्चयनय की मुख्यता से यह कहा है कि – सम्यग्दृष्टि ने अपने उपयोग को सिद्धभक्ति में जोड़ा है।

देखो, मूल पाठ में 'उपगूहन' शब्द आया है तथा टीका में 'उपबृंहण" शब्द दिया है। जिसका अर्थ गोपन करना-छुपाना होता है।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि ने जब अपने उपयोग को सिद्धभक्ति में जोड़ा है तब उसकी दृष्टि अन्य धर्मों पर रहती ही नहीं है, इसीकारण उसे अन्य सब धर्मों की दृष्टि से ओझल करनेवाला – अन्य धर्मों का गोपन करने वाला उपवृहण अंगधारी कहा गया है। अहाहा! कहते हैं कि समकिती के अन्तर में एकाग्र होने पर उसकी दृष्टि निमित्त व रागादि परपदार्थ व परभावों पर से हट जाती है,वहाँ उसकी दृष्टि रहती ही नहीं है।

अहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान, दर्शन, सुख, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनंत गुणों का भंडार है। उसे जानने के लिए तो प्रयत्न नहीं करता और वाहर के तुच्छ वैभव में अटक जाता है और पाँचपचास करोड़ रुपयों का संयोग कदाचित् हो गया तो उसमें अपनी उन्नति मानता है। पर भाई! यह कोई तेरी उन्नति नहीं है। सुन! और समझने की कोशिश कर! यहाँ यह कह रहे कि समकिति के आत्मा के सभी (अनंत) गुणों में अंश रूप से निर्मलता प्रगट हुई है एवं समयसमय उस निर्मलता में आंशिक वृद्धि भी हो रही है। यही आत्मा की सच्ची उन्नति है।

अहाहा! उपयोग को जहाँ सिद्धभक्ति में जोड़ा वहाँ अन्य धर्मो पर दृष्टि ही नहीं रहती। उपयोग में जहाँ शुद्धात्मा आया, वहाँ बाह्य व्रत, तप आदि राग पर से दृष्टि सहज ही छूट जाती है। इसीकारण उसे अन्य धर्मों का गोपन करनेवाला कहा जाता है।जिनेश्वरदेव का मार्ग अलौकिक है।

प्रश्नः– ये जिनमंदिर, स्वाध्यायमन्दिर आदि का जो आपने निर्माण कराया है, ये काम तो उत्तम किया है न?

उत्तरः– भाई! इन जिनमन्दिर आदि को कौन बना सकता है। ये सब तो अचेतन-जड़ रूप परद्रव्य हैं। इनकी रचना तो उनके अपनेअपने स्वचतुष्टय के कारण होती है। उनके बनाने न बनाने में जीव का कोई काम नहीं। जड़ की पर्याय जड़ परमाणुओं से होती हे, उसमें जीव का किसी भी प्रकार का कोई योगदान (कर्तव्य) नहीं है। हाँ, धर्मात्मा जीवों को धर्मानुराग वश धर्मायतनों-मन्दिर-मूर्ति आदि बनवाने एवं पूजाप्रतिष्ठा आदि धर्मप्रभावना के करने का राग आता अवश्य है। यदि तदनुरूप धर्मायतन बनने का सुयोग होता है तो वे बनते भी हैं—वस्तुव्यवस्था में सहजभाव से ऐसा सम्बन्ध बी बनता है – इसे ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। परन्तु वह भाव शुभरागरूप होने से पुण्यभाव है, धर्म नहीं। ऐसा पुण्यभाव धर्मात्मा जीवों को भूमिकानुसार अवश्य आता है, यदि उससे इन्कार करे तो भी वह मिथ्यादृष्टि है और उसमें धर्म माने तो भी मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः— आपका कहना सतय है, पर धर्म प्रभावना तो करना ही चाहिए नै?

अरे भाई! प्रभावना बाहर में होती है या अन्तरात्मा में? "प्र" अर्थात् प्रकृष्टरूप से "भावना" अर्थात् आत्मभावना। आत्मभावना का वढ़ना ही सच्ची प्रभावना है। अहा! आत्मा के अन्दर अनंत गुणों का खजाना है, उसका प्रगट अंश पूर्णता के आश्रय से जो वृद्धिगत होता है, वही प्रभावना है। शेष बाहर में जो धर्मप्रभावना करने का शुभभाव होता है, वह तो पुण्यबंध का कारण है। धर्मी के इस भाव को व्यवहार प्रभावना कहते हैं। अज्ञानी के तो न निश्चय प्रभावना है और न व्यवहार प्रभावना ही है।

अहाहा ! कहते हैं कि धर्मी की अन्य बाह्य धर्मो पर दृष्टि ही नहीं रही। यहाँ अन्य धर्मो का अर्थ है व्रत, तप, भक्ति, पूजा का राग तथा देवशास्त्रगुरु आदि संयोगी धर्मधर्मायतनों का सत्समागम। इन सभी अन्य पदार्थो पर से धर्मी की दृष्टि ही उठ गई है। इसकारण वह अशुद्धता का अभाव करके शुद्धता की वृद्धि करता है।

वास्तव में ज्ञानी बाह्य व्यवहार को तो क्रमशः घटाता जाता है और अन्तःशुद्धि को बढ़ाता जाता है, क्योंकि उसके केवल एक ज्ञायकभाव की ही मुख्यता रह गई है। इसके विपरीत अज्ञानी की ज्ञायकभाव से तो भेंट ही नहीं हुई; अतः उसकी दृष्टि सदैव बाह्य साधनों पर बनी रहती है, पर निश्चय के विना उसका यथार्थ व्यवहार ही कहाँ से हो? यहाँ तो आचार्य यह कह रहे हैं कि जिसने अपने शुद्ध चैतन्यघन स्वरूप प्रभु आत्मा की भक्ति में उपयोग को जोड़ा है, उसकी अन्य व्यवहार धर्मो पर दृष्टि ही नहीं रहती। इसकारण वह अशुद्धता का नाशक और आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है। भाई! यह निर्जरा की चर्चा है, इसे इसी दृष्टि से यथार्थ समझना चाहिए।

प्रश्नः— ऐसा एकान्त क्यों करते हो? ऐसा कहो न कि व्यवहार से निश्चय होता है, इसमें निश्चय का एकान्त नहीं होगा।

समाधानः— भाई! अनेकान्त का स्वरूप ऐसा नहीं है। अनेकांत तो यह है कि समकिती व्यवहार के राग को घटाता जाता है और निश्चय शुद्धता को बढ़ाता जाता है। भाई! व्यवहार से निश्चय होता है — ऐसा मानना तो मिथ्या एकान्त है और निश्चय — शुद्धात्मा के लक्ष्य से ही शुद्ध परिणति होती है — यह सम्यक् एकांत है।

अव कहते हैं कि इस 'उपगूहन' गुण का दूसरा नाम 'उपवृहण' भी है, जिसका अर्थ बढ़ाना होता है। सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को सिद्ध

के स्वरूप में जोड़ता है, अतः उसके आत्मा की सर्व शक्तियाँ बढ़ती हैं। यही तप व निर्जरा है। आत्मा की सर्व शक्तियों को वृद्धंगत होना तप व निर्जरा है।

अहा! अज्ञी जो महीनामहीना के उपवास करता है, वह सब तो केवल पाप की ही मजूरी करता है; क्योंकि वह एक तो उसमें धर्म की मान्यता से मिथ्यात्व रूप महापाप का पोषण करता है और दूसरे उसे मिथ्यात्व खा जाता है अर्थात् वह मिथ्यात्व के कारण लौकिक प्रयोजन के हेतु से पापरूप हो जाता है।

भाई! परद्रव्य के आश्रय से तो राग ही होता है तथा स्वद्रव्य के आश्रय से ही एकमात्र वीतरागता होती है। यह सर्वज्ञ परमात्मा का जगजाहिर संदेश है। कहा भी है कि स्वाश्रय सो निश्चय व पराश्रय सो व्यवहार। भाई! जितना पराश्रय में जायेगा उतना राग होता है। इसीलिए तो कहा है कि ज्ञानी पराश्रय से दृष्टि उठा लेता है।

अहा! उपयोग को अपने सिद्धस्वरूप शुद्धात्मा में जोड़ने से ज्ञानी के आत्मा की सर्व शक्तियाँ बढ़ती हैं, आत्मा अपने अनन्त धर्मों से, शान्ति से, ज्ञान से, सुख से पुष्ट होता है।

अब कहते हैं कि इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्ति में वृद्धि होने से उसे जो दुर्बलता जनित बन्ध होता था, वह न होकर निर्जरा ही होती है। यद्यपि जबतक अन्तराय का उदय है, तबतक निर्बलता है; तो भी उसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है, अपनी शक्ति अनुसार कर्मों के उदय को जीतने का उसके महान उद्यम वर्तता है। इसकारण उसके दुर्बलता से होनेवाला बंध नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की विशुद्धि निरंतर वृद्धिगत होने से धर्मी के दुर्बलता से होनेवाला बंध भी नहीं होता।

यद्यपि अन्तराय के उदय में उपयोग के जुड़ने से धर्मी के किंचित् कमजोरी होती है, पर उसके अभिप्राय में कहाँ निर्बलता है? वह अभिप्राय में तो पूर्ण प्रभुता का स्वामी है। अहा! धर्मी को अभिप्राय में तो पूर्ण भगवान प्रभु आत्मा बसा है, इससे भले वह चौथे गुणस्थान में नरक में हो या तिर्यंच में हो, उसे तो वहाँ भी अपनी पूर्ण प्रभुता ही दिखाई देती है। पर्याय पर से तो उसकी दृष्टि ही उठ जाने से उसे तो अनन्त शक्तियों का सागर भगवान आत्मा ही दिखाई देता है।

इसप्रकार ज्ञानी के अभिप्राय में निर्बलता है ही नहीं। इससे उसे निरंतर अपनी पर्याय में रहीसही कमजोरी का ही उद्यम वर्तता है। यहाँ तक सम्यक्त्व के पांच अंगों की चर्चा हुई।

समयसार गाथा २३४

उम्मग्गं गच्छतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३४।।

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३४।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एवं स्थितिकरणात् ततोऽ मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः, किन्तु निर्जरैव।

अव स्थितिकरण गुणकी गाथा कहते हैंः—

उन्मार्ग जाते स्वात्माको भी, मार्गमें जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टि जानना।।२३४।।

गाथार्थः— [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**उन्मार्ग**] उनमार्ग में जाते हुए [**स्वकम् अपि**] अपने आत्मा को भी [**मार्गे**] मार्गमें [**स्थापयति**] स्थापित करता है, [**सः**] वह [**स्थितिकरणयुक्तः**] स्थितिकरणयुक्त [**सम्यग्दृटिष्टः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीकाः— क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीण एक ज्ञायकभावमयता के कारण, यदि अपना आत्मा मार्गसे (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से) च्युत हो तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है, इसलिए स्थितिकारी (स्थिति करने वाला) है. अतः उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला वंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः— जो, अपने स्वरूपरूपी मोक्षमार्गसे च्युत होते हुए अपने आत्माको मार्गमें (मोक्षमार्गमें) स्थित करता है वह स्थितिकरणगुणयुक्त है। उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला वन्ध नहीं होता किन्तु उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिए निर्जरा ही होती है।

गाथा २३४ उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण अंग की गाथा है। यहाँ चौथे गुणस्थान की अपेक्षा कथन किया गया है। पाँचवें व छटवें गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टियों की तो बात ही कुछ और होती है। यहाँ सम्यग्दृष्टि का अर्थ है चेतयिता और चेतयिता का अर्थ है ज्ञायकभाव का धारी धर्मी है – सम्यग्दृष्टि। जिसकी श्रद्धा में केवल एक ज्ञायकभाव पर है। भाई! यह तो हमने बहुत थोड़ा कहा है। आचार्यो की भावना है कि हमने जो थोड़ा लिखा है, शिष्य उसका सही मूल्यांकन करके उससे भी बहुत अधिक समझ लेंगे।

सम्यक्दृष्टि अर्थात् सत्-दृष्टि उसे कहते हैं, जिसको सत्स्वभावी सच्चिदानंद-स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हो गई है। अहा! सत् की दृष्टि में समकिती को आनन्द आदि जो अनंत स्वरूपभूत शक्तियाँ हैं, उन सबका अंश अनुभव में आ जाता है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा भी है "सर्वगुणांश ते सम्यक्त्वं।" आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में भी कहा है कि चौथे गुणस्थानवर्ती जीव को ज्ञानादि समस्त गुण एकदेश प्रगट हुए हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में वे ज्ञानादि गुण सर्वदेश प्रगट हो जाते हैं, उन दोनों गुणस्थानों में प्रगट हुए ज्ञानादि गुणों की एक ही जाति है। अहा! समकिती जीव के समकित पर्याय प्रगट होने पर उसके आत्मा में विद्यमान अनन्तगुण एकदेश अंशरूप से निर्मल हो जाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावी होने से यदि अपने आत्मा को उस ज्ञायकभाव से च्युत होते देखता है तो पुनः वह अपने आत्मा को उसी में स्थित करनेवाला होने से स्थितिकरण अंग का धारी है।

देखो, सम्यग्दृष्टि स्वयं ही स्वयं को अपने में स्थित करता है, – ऐसा कहा है। अहा! स्वयं कदाचित् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग से च्युत होता है, तो अपने को उसी मार्ग में स्थित करता है। जगत में कोई बड़ी भारी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण या अपने अन्दर के पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कदाचित् शंका-आदि दोष हो जावे, तो वह उसे निकाल देता है, उस दोष को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देता है।

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" यह तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है न ? इसका निश्चयपरक अर्थ यह है कि शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में प्रतीति, ज्ञान व उसी में रमणता होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। यदि ऐसे शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग से डिगने

का प्रसंग आवे तो वैसे संयोग में भी ज्ञानी – समकिती स्वयं अपने को उस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में ही स्थापित कर लेता है। अहा! यदि जगत में किसी पुण्योदय विशेष के कारण कोई किसी मिथ्यादृष्टि जीव की बहुत महिमा करता हो तो ऐसे प्रसंग में समकिती धर्मीजीव शान्ति व धीरज रखते हैं तथा स्वयं को सन्मार्ग से डिगने नहीं देते। उसे ऐसा नहीं लगता कि यह क्या अंधेर हो रहा है। उस समय वह तो ऐसा विचार करता है कि पुण्य का उदय हो तो जगत अधर्मी की भी प्रशंसा करता है तो भले करे – इससे हमें क्या ? इस विचार से वह अपने ज्ञायकभाव से च्युत नहीं होता और अपने स्थितिकरण अंग का पालन करता हुआ, अपने निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में स्थित रहने से वह स्थितिकरण अंग का धारी है, इसकारण उसके मार्ग से च्युत होनेवाला बंध नहीं होता, वल्कि निर्जरा ही होती है।

अहा! जिसे सम्यग्दर्शन में अपने स्वरूप का – अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ अपने आत्मा का अनुभव हुआ है, वह मुक्तिमार्ग से विचलित नहीं होता। कदाचित् कोई ऐसा प्रसंग आ भी जावे तो वह अपने को पुरुषार्थपूर्वक मुक्तिमार्ग में ही स्थापित कर लेता है। इसप्रकार समकिती के स्थितिकरण नाम का गुण होने से मार्ग से च्युत होनेवाला बंध नहीं होता, वल्कि निर्जरा ही होती है ।

यहाँ जो स्थितिकरण गुण कहा है, वह वस्तुतः गुण नहीं पर्याय है; क्योंकि गुण तो त्रिकाल होता है। यहाँ तो ज्ञानी पर्याय में स्थित होता है। पर यहाँ इस पर्याय को ही गुण कहा है – ऐसा समझना चाहिए।

समयसार गाथा २३५

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वों ।।२३५।।

य: करोति वत्सलत्वं त्रयाणं साधूनां मोक्षमार्गे।
स वत्सलभावयुत: सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य: ।।२३५।।

यतो हि सम्यग्दृष्टि: टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्धया सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सल:, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंध:, किन्तु निर्जरैव।

अब वात्सल्यगुण की गाथा कहते हैं:–

जो मोक्षपथ में 'साध' त्रय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना ।।२३५।।

गाथार्थ:–[य:] जो (चेतयिता) [मोक्षमार्गे] मोक्षमार्ग में स्थित [त्रयाणां साधूनां] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों–साधनों के प्रति (अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और मुनि – इन तीन साधुओं के प्रति) [वत्सलत्वं करोति] वात्सल्य करता है, [स:] वह [वत्सलभावयुत:] वात्सल्यभाव से युक्त [सम्यग्दृष्टि:] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्य:] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (अनुभव करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है, इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होनेवाला बन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :–वत्सलत्व का अर्थ है प्रीतिभाव। जो जीव मोक्षमार्गरूपी

अपने स्वरूप के प्रति प्रीतिवाला – अनुरागवाला हो उसे मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही होती है।

गाथा २३५ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यह सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग के निरूपण की गाथा है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव के स्वरूप का कथन है। कहते हैं कि जिसके एक ज्ञायकभावमयपने की दृष्टि प्राप्त हो गई है, वह समकिती है। धर्मी की दृष्टि एक ज्ञायकभाव पर ही होती है, उसकी दृष्टि निमित्त व राग पर नहीं होती। यद्यपि है तो वह पर्याय, परन्तु उस पर्याय का विषय त्रिकाली एक ज्ञायकभाव है।

कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि, एक ज्ञायकभावमयपने के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया अनुभव करता है, इसलिए मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है, इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होनेवाला बंध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है।

देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को "साधु-साधकत्रय" कहा है। मूल पाठ में भी "तिण्हं-साहूणं" कहा है। अपना जो एक त्रिकाली भाव है, उसके श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र – ये तीन साधक हैं। अहा ! आत्मा की परमानन्दरूप मुक्ति का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र साधन है। एक ज्ञायकभावमय नित्यानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा को ध्येय में लेने पर समकिती के जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधकदशा है वह पूर्णानन्दरूप मोक्ष का साधन है । निमित्त साधन व व्यवहार साधन की बात यहाँ नहीं हैं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधन कहा है।

अहा! वस्तु को त्रिकाल एक ज्ञायकभावरूप है तथा उसका अनुभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी एक ज्ञायकभावपने के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आत्मा से अभेदपने अनुभवता है। इसी का नाम मोक्षमार्ग व इसी का नाम धर्म है।

प्रश्नः– क्या इससे कोई सरल मार्ग नहीं है?

उत्तरः– अरे भाई! अपने सहजात्मस्वरूप में युक्त होने का तो यही सबसे सरल व सुलभ उपाय (मार्ग) है। हमने अनंतकाल से इस उपाय को किया नहीं, इसकारण कठिन लगता है; किन्तु मार्ग तो एकमात्र यही है और स्वाधीन होने से अत्यन्त सरल भी है।

१६वीं गाथा में भी यह बात आ चुकी है कि जो स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र का सेवन है, वे तीनों एक आत्मा ही हैं। अर्थात् आत्मा के एकपने का अनुभव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अभेदबुद्धि से अनुभव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र हैं तो तीनों पर्यायें, परन्तु उन पर्यायों का लक्ष्य – ध्येय त्रिकाली ध्रुव ही है।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने आत्मा से अभेदबुद्धि करके सम्यक्तया अनुभव करनेवाला होने से मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला होता है।

अहा! मुनिवरों ने संक्षेप में कितनी बड़ी बात कह दी है। अपने एक ज्ञायकभाव में स्थित दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने ही द्वारा अभेदबुद्धि में अनुभव करना ही सच्ची धर्मवत्सलता है। इसी का नाम मार्गवात्सल्य अथवा मोक्षमार्ग के प्रति प्रेमभाव है।

अरे भाई ! यह जो रूपवान शरीर दिखाई देता है, वह तो क्षण भर में राख हो जावेगा। अतः उसका राग छोड़ और राग का भी राग छोड़कर एक समय की पर्याय का भी प्रेम छोड़ दे। केवल एक ज्ञायकभाव से नाता जोड़। तब तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का – स्वयं से एकत्व का अनुभव होगा। यही वास्तविकता मार्गवत्सलता है।

अहा! धर्मी जीव मार्गवत्सल है अर्थात् मोक्षमार्ग में अति प्रीति रखनेवाला होता है। चिदानन्द व सहजानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की जो प्रतीति हुई है, उसके जो ज्ञान व रमणता हुई है; धर्मी उसका अपने में स्वपने व एकत्वरूप से अनुभव करता है तथा उसे मोक्षमार्ग के प्रति अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हो गई है। जिस अज्ञानी ने अभीतक उस आत्मा की या धर्म की चर्चा सुनी ही नहीं हो तो वह विचार क्या करे? वह या तो पर में या फिर शुभराग में ही तो अटकेगा, परन्तु पर में अटकना–प्रेम करना तो व्यभिचार है। देखो प्रवचनसार गाथा २७९ में पर से प्रेम करनेवाली प्रवृत्ति को 'अभिसारिका' जैसे शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ परपुरुष से स्नेह करनेवाली स्त्री होता है। तात्पर्य यह है कि पर से प्रेम करना परनारी संग रमने जैसा खोटा काम है। इसतरह जो अपने शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप को छोड़कर राग में रमता है, पर से प्रेम करता है; वह अभिसारिका के समान है। तथा जो त्रिलोकीनाथ सच्चिदानंदमय अपने भगवान आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति को एकरूप करता है, वह मार्गवत्सल है, मोक्षमार्ग में अतिप्रीति करनेवाला वात्सल्य अंग का धारी धर्मी है। धर्मी को तो राग व निमित्त का प्रेम छूट ही गया

है। बस, उसे तो केवल रत्नत्रय भावना से ही प्रेम रह गया है। अपने ज्ञायकभाव में अभेदपने – एकपने दृष्टि, ज्ञान व रमणता करना ही सम्यक्‌भाव है और यही धर्मवत्सलता है।

अब कहते हैं कि "इसकारण समकिती को मार्ग की अनुपलब्धि से हुआ बंध नहीं है, कर्म रस देकर खिर जाने से निर्जरा ही है।"

अहा! जिसको भगवान आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना वर्तती है, उसे मार्ग का वात्सल्य है और इसी से मार्ग की अनुपलब्धि से जो बंध होता है, वह बंध उसे नहीं होता। जो कि धर्मी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन होने पर भगवान आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसकारण उसे बंध नहीं होता, बल्कि निर्जरा ही होती है। सहज औदयिकभाव आता है, पर अंतरंग में मोक्षमार्ग में वत्सलता वर्तती है, इससे उदय आकर कर्म निर्जर जाते हैं।

जिसप्रकार अफीमची को अफीम पीने पर नशा चढ़ जाता है, उसीप्रकार धर्मी ने भी मोक्षमार्ग की प्रीति का प्याला पिया है, अतः उसे भी मोक्षमार्ग की लगन की ऐसी खुमारी चढ़ती है कि जो फिर छूटती ही नहीं है। स्वाश्रय से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही आत्मा के लिए मोक्षमार्ग के साधन हैं, उनसे ही प्रेम कर वही सच्चा वात्सल्य है, शेष साधर्मियों से प्रेम करना, वह तो व्यवहार वात्सल्य है। अज्ञानी के तो यथार्थ व्यवहार ही नहीं है।

गाथा २३५ के भावार्थ पर प्रवचन

वत्सलता अर्थात् प्रीतिभाव। जिसप्रकार गाय को बछड़े से कोई अपेक्षा नहीं है, फिर भी उसे बछड़े से खूब, प्रीति होती है; उसीप्रकार धर्मी जीवों को मोक्षमार्ग एवं मोक्षमार्ग पर चलनेवाले धर्मात्माओं के प्रति अतिशय धर्मवात्सल्य होता है एवं दुनियाँ के सभी प्रकार के भोगों के प्रति उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। अहा! प्रतिदिन लाखों-करोड़ों की आमदनी हो, तो भी धर्मी को उसके प्रति प्रेम नहीं रहा। उसके प्रेम की तो दिशा ही बदल गई है। अहो! दर्शनविशुद्धि कोई गज़ब चीज है, उसके प्रगट होने पर जीवों की रुचि की दिशा ही बदल जाती है। उसकी रुचि पर से हटकर स्व में जागृत हो जाती है।

ज्ञानी के चारित्रमोह सम्बन्धी दोष होता है, परन्तु दर्शनविशुद्धि होने से उसकी परपदार्थों में मूढ़ता नहीं रहती। देखो, राजा श्रेणिक क्षायिक समकिती थे। अपार राजवैभव एवं अनेक रानियाँ थीं, परन्तु अन्तर में मोक्षमार्ग की, शुद्ध रत्नत्रय की रुचि थी, राज्य में व रानियों में

प्रेम नहीं था। अहा! ज्ञानी को निज आत्मा मे जैसा प्रेम होता है, वैसा पर में नहीं होता। अज्ञान दशा में इससे विपरीत होता है।

प्रश्न:— रामचन्द्रजी को राग का राग था कि नहीं?

समाधान:— नहीं, भाई! रामचन्द्रजी को राग का राग नहीं था। यद्यपि रामचन्द्रजी जंगल में सर्वत्र वृक्षों से तक यह पूछते-थे कि हे वृक्ष! तुमने मेरी सीता को यहाँ से जाते हुए देखा है क्या? फिर भी वह राग अस्थिरताजनित चारित्रमोह संवंधी राग था। उन्हें राग तो था, परन्तु राग का राग नहीं था।

देखो, सीताजी पतिव्रता थीं, राम को पति के रूप में स्वीकार करने पर, उन्हें स्वप्न में भी किसी पर पुरुष के प्रति पतिपने से प्रेम नहीं था, विकल्प भी नहीं था। जव रावण उनको उठा ले गया, तव सीताजी ने दुःखी होकर अपने सारे आभूषण उतार कर फेंक दिये। सोचा कि जव यह परपुरूष मेरा अपहरण करके ले जा रहा है तो अव मुझे आभूषणों से अपना सौन्दर्य वढ़ाने का क्या प्रयोजन रहा? किसको दिखाने के लिए मैं ये आभूषण पहन कर रखूँ। देखो, जव दृष्टि में राम वसे थे तो उनके विना सव व्यर्थ लगने लगा था। उसीप्रकार धर्मी जीवों की दृष्टि में भगवान आत्मा वस रहा है, इसकारण जगत में अन्य कोई भी वस्तु उन्हें अच्छी नहीं लगती। इन्द्रादि के पद भी उन्हें आकर्षित नहीं कर पाते। अहा!जिसे अन्तर में दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो गये हैं, उन्हें अन्य सभी से प्रेम टूट गया है। कहा भी है —

"चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्रसारिखे भोग।
काकबीट सम गिनत हैं, सम्यकूदृष्टि लोग।।"

अहा! धर्मी को सारा जगत तुच्छ भासित होता है। देखो, जिसतरह करोड़ों की सामग्री से भरा मकान भी मुर्दे को आकर्षित नहीं कर पाता, उसीतरह जिसे भगवान आत्मा चैतन्य परमेश्वर प्रभु की प्रतीति, ज्ञान व रमणता की प्रीति हुई है, वह ज्ञानी अनेक प्रकार की वाह्यसामग्री के प्रति मुर्दे की तरह उदास-उदास रहता है।

आचार्य कहते हैं कि जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूप के प्रति प्रीतिवान — अनुरागवाला हुआ है, उसे मार्ग की अप्राप्ति से वन्ध नहीं होता। वल्कि कर्म फल देकर खिर जाने से निर्जरा ही होती है। इसप्रकार वात्सल्यगुण का वर्णन हुआ।

समयसार गाथा २३६

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३६।।

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ।।२३६।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः, ततोऽस्य ज्ञानप्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव।

अब प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं:-

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३६।।

गाथार्थ:— [यः चेतयिता] जो चेतयिता [विद्यारथम् आरूढः] विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ (चढ़ा हुआ) [मनोरथपथेषु] मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलने के मार्ग में) [भ्रमति] भ्रमण करता है, [सः] वह [जिनज्ञानप्रभावी] जिनेन्द्रभगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका:— क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने—विकसित करने — फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, इसलिए प्रभावना करने वाला है; अतः उसे ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से (ज्ञान की प्रभावना न बढ़ाने से) होने वाला वन्ध नहीं, किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ:— प्रभावना अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना इत्यादि। इसलिए जो अपने ज्ञान को निरंतर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है —

बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है। उसे अप्रभावनाकृत कर्मबंध नहीं होता; किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है, इसलिए उसके निर्जरा ही है।

इस गाथा में निश्चय प्रभावना का स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्ब को रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादि में फिराकर व्यवहार प्रभावना की जाती है, इसीप्रकार जो विद्यारूपी (ज्ञानरूपी) रथ में आत्मा को विराजमान करके मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्ग में भ्रमण करता है, वह ज्ञान की प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चयप्रभावना करनेवाला है।

इसप्रकार ऊपर की गाथाओं में यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को निःशंकित आदि आठ गुण निर्जरा के कारण हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व के अन्य गुण भी निर्जरा के कारण जानना चाहिए।

इस ग्रन्थ में निश्चय प्रधान कथन होने से यहाँ निशंकितादि गुणों का निश्चय स्वरूप (स्वाश्रित स्वरूप) बताया गया है। उसका सारांश इसप्रकार हैः— जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान में निःशंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हों अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके निःशंकितगुण होता है। (१) जो कर्मफल की वांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मो की वांछा न करे, उसके निःकांक्षित गुण होता है। (२) जो वस्तु के धर्मो के प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है (३) जो स्वरूप में मूढ़ न हो, स्वरूप को यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होता हैं। (४) जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में युक्त करे, आत्मा की शक्ति वढ़ाये, और अन्य धर्मों को गौण करे, उसके उपगूहनगुण होता है। (५)जो स्वरूप से च्युत होते हुए आत्मा को स्वरूप में स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है। (६) जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्यगुण होता है। (७) जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित कर प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है। (८)

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषों के द्वारा जो कर्मबन्ध होता था, उसे नहीं होने देते। और इन गुणों के सद्भाव में, चारित्रमोह के उदयरूप शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (शंकादि की) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बन्ध नहीं होता; क्योंकि बन्ध तो प्रधानता से मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।

सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदय निमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध कहा है, वह भी निर्जरारूप ही (निर्जरा के समान ही) समझना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे पूर्व में मिथ्यात्व के उदय के समय बंधा हुआ कर्म खिर जाता है, उसीप्रकार नवीन बँधा हुआ

कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्म के स्वामित्व का अभाव होने से वह आगामी-बन्धरूप नहीं, किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे – कोई पुरूष दूसरे का द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिक को दे देता है; नियत समय के आने तक वह द्रव्य उसके घर में पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन नहीं है, वह उसके स्वामी को दे देने के बराबर ही है; इसीप्रकार ज्ञानी कर्मद्रव्य को पराया मानता है, इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता। अतः उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुए के समान ही है – ऐसा जानना चाहिए।

यह निःशंकितादि आठ गुण व्यवहारनय से व्यवहार-मोक्षमार्ग में इसप्रकार लगाने चाहिये :–

जिनवचनों में सन्देह नहीं करना, भय के आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगना, सो निःशंकितत्व है (१) संसार-देह-भोग की वांछा से तथा परमत की वांछा से व्यवहार-मोक्षमार्ग से चलायमान न होना, सो निःकांक्षितत्व है (२) अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि न करना-सो निर्विचिकित्सा है (३) देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप– इत्यादि में मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना, सो अमूढ़दृष्टि है। (४) धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाय तो, उसे गोण करना और व्यवहार-मोक्षमार्ग की प्रवृति को बढ़ाना, सो उपगूहन अथवा उपबृहंण है (५) व्यवहार-मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को स्थिर करना, सो स्थितिकरण है (६) व्यवहार-मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना, सो वात्सल्य है (७) व्यवहार-मोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना, सो प्रभावना है (८)

इसप्रकार आठ गुणों का स्वरूप व्यवहारनय को प्रधान करके कहा है। यहाँ निश्चयप्रधान कथन में उस व्यवहार स्वरूप की गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण दृष्टि में दोनों प्रधान हैं। स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

गाथा २३६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब प्रभावना अंग की गाथा कहते हैं–

देखो, इसमें 'चेदा' अर्थात् चेतयिता शब्द आया है, जो सम्यग्दृष्टि के लिए प्रयुक्त हुआ है । अहा! सम्यग्दृष्टि चेतयिता है। जो ज्ञायकस्वभावी

भगवान आत्मा को जानता-देखता है, वह सम्यग्दृष्टि चेतयिता है। जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर चढ़कर मनरूप पंथ में भ्रमण करता हुआ, जिनेश्वरदेव के ज्ञान की प्रभावना करता है, उसे प्रभावना अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

अहा! सम्यग्दृष्टि विद्यारूपी रथ में अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी रथ में आरूढ़ हुआ है तथा वह ज्ञानरूपी रथ को मोक्षमार्ग में चलाता है। अहा! त्रिकाली शाश्वत् विद्यमान पदार्थ भगवान आत्मा का ज्ञान होना ही यथार्थज्ञान है। वकालत का ज्ञान या डाक्टरी आदि का लौकिक ज्ञान तो वस्तुतः अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है। उससे आत्मा का हित नहीं होता।

प्रश्नः- लौकिक ज्ञान बिना आजीविका कैसे चलेगी? वह पैसा कमाने का साधन तो है न?

उत्तर- अरे भाई! यह मानना भी भ्रम है। पैसा तो जड़ — धूल — माटी है, उसे ज्ञान कैसे कमा सकता है? पैसे का संयोग पैसे के अपने कारण से है, उससे ज्ञान का कोई सम्वन्ध नहीं है। पैसा ज्ञान के कारण से नहीं आता है। अनपढ़ और विल्कुल सामान्य वुद्धिवाले वड़े-बड़े सेठों के पास अरवों रुपये का व्यापार है और वड़े-वड़े,पढ़े-लिखे वुद्धिमान व्यक्ति उनके यहाँ नौकरी करते हैं।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानरूपी रथ पर विचरण करते हुए ज्ञानी वीतराग-विज्ञान की प्रभावना करनेवाले हैं। यहाँ वीतराग-विज्ञान का अर्थ है — अपना वीतराग-विज्ञान स्वभाव। अहा! धर्मी जीव जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला है अर्थात् स्वभाव से प्रगट होनेवाले वीतराग-विज्ञान की प्रभावना करनेवाला है।

प्रश्नः- ज्ञानी वाहर की प्रभावना भी करता है या नहीं?

उत्तरः- नहीं, भााई! जव वाहर की प्रभावना कोई कर ही नहीं सकता तो ज्ञानी भी बाहर की प्रभावना कैसे कर सकेगा? हाँ! ज्ञानी — धर्मी जीवों को ऐसा विकल्प अवश्य आता है; किन्तु वह विकल्प भी तो रागभाव है, रागभाव को धर्म की प्रभावना कहना केवल उपचार है। यदि कोई शुभराग में कर्तृत्व का अभिमान करे कि मैंने ऐसी प्रभावना की तो उसकी यह मान्यता मिथ्यात्व है। भाई! जब ज्ञानी राग का कर्ता ही नहीं है, तो उसे वाह्य प्रभावना का कर्ता भी कैसे कहा जा सकता है?

देखो तो सही! यहाँ आचार्यदेव ने कैसी मार्मिक भाषा का प्रयोग किया है। ज्ञानी को जिनज्ञान प्रभावी कहा है, जिनज्ञान माने निज भगवान

आत्मा का ज्ञान। इसंप्रकार ज्ञानी जीव निज भगवान की आत्मा की प्रभावना करनेवाला है।

प्रश्नः- 'जिनज्ञान' अर्थात् जिनेश्वर का ज्ञान – ऐसा अर्थ क्यों नहीं किया? तथा धर्मी जीव उस जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला है – ऐसा अर्थ करने में क्या बाधा है?

उत्तरः- कोई बाधा नहीं, आत्मा स्वयं जिनेश्वर है और उसका ज्ञान ही जिनेश्वर का ज्ञान है तथा धर्मी उस जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला है। बाहर का शास्त्रज्ञान व अन्य कोई लौकिकज्ञान जिनज्ञान नहीं है, आत्मज्ञान ही जिनज्ञान है तथा धर्मी पुरुष उसकी प्रभावना करनेवाला है।

प्रश्नः- "दूसरों को भी आत्मज्ञान का लाभ मिले, धर्मी ऐसी बाहर में प्रभावना का काम करता है या नहीं?

उत्तरः- अरे भाई! धर्मी का पर के साथ सम्बन्ध ही क्या है? जो वह पर के लिए कुछ करे? क्या ज्ञानी पर में कुछ भी फेर-फार कर सकता है? उसे ऐसे विकल्प अवश्य आते हैं; परन्तु वे विकल्प तो शुभराग हैं, बन्ध के कारण हैं। वह कोई जिनज्ञान नहीं है। यहाँ तो यह कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वयं जिनेश्वर – परमेश्वर अकेला ज्ञानानंद रस का समुद्र है। उसके अंतर्मुखाकार ज्ञान ही जिनेश्वर का ज्ञान है तथा उसकी प्रभावना अर्थात् प्रकृष्टरूप से भावना करनेवाला सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा प्रभावना करनेवाला है। अज्ञानी को इस कथन में एकान्त भासित होता है। परन्तु भाई! स्व के आश्रय बिना अन्य किसी भी प्रकार से – व्यवहार से – राग से ज़िनमार्ग प्रभावना नहीं होती।

देखों, 'मैं नित्यानन्दस्वरूप त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकस्वभावमय आत्मा हूँ' – जिसे अपने ऐसे त्रिकाली सत्स्वभाव की प्रतीति हुई है, वह सम्यक्दृष्टि है। अहा! जिसकी दृष्टि में अपना पूर्ण चैतन्य महाप्रभु आत्मा आया है, वह सम्यक्दृष्टि है।

अहा! धर्मी की अखंण्ड एक ज्ञायकभाव पर ही दृष्टि है। दुनिया में जो बाह्य दया, दान, व्रत, भक्ति आदि करते हुए देखी जाती है वह तो राग की क्रिया है; अतः वह धर्म का अंग नहीं है, अज्ञानी इसे धर्म का अंग मान लेता है तथा धर्मी के अंतर में जो ज्ञान की अंतःक्रिया होती है, अज्ञानी उसे पहचानता ही नहीं है।

परमार्थ वचनिका में आया है कि अज्ञानी को बाह्य क्रियारूप आगम अंग साधना सरल लगता है; इससे वह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि बाह्य क्रियायें करता है; परन्तु वह अध्यात्म अंग के व्यवहार को नहीं जानता है। अहा! अन्तर में शुद्ध स्वरूप के आश्रय से जो आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान व रमरणता प्रगट होती है, वह अध्यात्म का व्यवहार है। अज्ञानी ऐसे अध्यात्म के व्यवहार को नहीं जानता।

प्रश्नः- धर्मी के अंतरंग में प्रगट हुए धर्म की पहचान तो उसके बाह्य व्यवहार से ही होगी न?

उत्तरः- अरे भाई! अन्दर की आध्यात्मिक क्रिया का माप बाह्य रागरूप व्यवहार से कैसे हो सकेगा? बाह्य व्यवहार या व्यवहार रत्नत्रय भी तो रागरूप ही होता है न? तथा राग जड़ है, अजीव है। ऐसे रागरूप क्रिया से चैतन्य की क्रिया का माप कैसे हो सकता है? धर्म प्रगट होने की जाँच या पहचान तो उसके ज्ञायकपने की परिणति ही है। अन्य कोई नहीं।

आगे कहते हैं कि "सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही समस्त शक्यितों को प्रगट करके विकसित करके फैलाकर प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होने से प्रभावना करनेवाला है।"

अहा! भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का पुंज प्रभु है। उसके आश्रय से प्रगट हुई ज्ञान की पवित्र दशा ही ज्ञान का विकास है। ज्ञानी समस्त शक्तियों को प्रगट करनेवाला होने से प्रभावना अंग का धारक है। वर्तमान में ज्ञान की अंशरूप प्रगटता है, उसे ही वह पूर्ण प्रगट करनेवाला होने से प्रभावना करनेवाला है या प्रभावना अंग का धारक है।

अज्ञानी पाँच-पचास लाख खर्च करके या पंचकल्याणक व गजरथ करके ऐसा मानता है कि मैंने धर्मप्रभावना की, परन्तु भाई! यदि ऐसा करने में भक्तिभावरूप शुभराग रहा तो पुण्यबन्ध होगा और यदि यश-प्रतिष्ठा आदि का भाव आ गया, तो पापबंध होता है। इसमें धर्म की प्रभावना कहाँ हुई? शुभराग को भी व्यवहार से प्रभावना तब कही जाती है, जब अंतरंग में निश्चयज्ञान की प्रगटता व विकास हुआ हो। अज्ञानी के विकल्प में तो उपचार की संभावित नहीं है।

अहा! ज्ञानी धर्मात्मा ही सच्ची प्रभावना करनेवाला है। अतः उसको ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से होनेवाला बंध नहीं होता, बल्कि निर्जरा ही है।"

कहते हैं कि समकिती के निःशंकित आदि आठ गुण होते हैं, उसे एक ज्ञायकभावमयता प्रगट है। उसकी दृष्टि एक ज्ञायकभाव पर ही स्थिर है तथा उसका लक्ष्य निमित्त, राग व पर्याय पर से हट गया है। वह समकिती है तथा उसके निःशंकितादि आठ गुण प्रगट होते हैं।

(1) अहा! सूर्यबिम्ब की भाँति मैं शुद्ध एक पूर्ण ज्ञानप्रकाश का बिम्ब प्रभु आत्मा हूँ। जो धर्मी अपने ऐसे स्वरूप में निःशंक है, वह निःशंकित अंग का धारक है।

(2) मैं पूर्ण हूँ - ऐसे अपनी पूर्णता की भावना होने से ज्ञानी को पर की व राग की कांक्षा नहीं रहती, इसकारण वह निःकांक्षित गुण का धारक है।

(3) ज्ञानी के पूर्ण स्वभाव की भावना बर्तती है, इसकारण उसे पर पदार्थों में इष्टअनिष्टपना भासित नहीं होता तथा इष्टानिष्टपने का अभाव होने से उसे द्वेषभाव नहीं रहता, अतः वह निर्विचकित्सा गुण का धारक होता है।

(4) धर्मी को परपदार्थों के प्रति अयथार्थबुद्धि नहीं है। परपदार्थ— धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि मेरे हैं — ऐसा मानना अयथार्थबुद्धि है, मूढ़ता है। ज्ञानी के मूढ़ता नहीं है, अतः वह अमूढ़दृष्टि अंग का धारक है।

(5) धर्माता ज्ञानी जीव दूसरों के दोषों को छिपाता है और गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहता है तथा इसके विपरीत अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाता है, इसकारण इस अंग को उपगूहन व उपबृंहण अंग कहते हैं।

(6) अपने स्वभाव से भ्रष्ट या च्युत होने का प्रसंग बनने पर ज्ञानी अपने को पुनः उसी में स्थापित कर लेता है। अतः ऐसे ज्ञानी को स्थितिकरण अंग का धारक कहते हैं।

(7) अपने निर्मल स्वभावी ज्ञान-श्रद्धान व आचरणरूप मार्ग की ही जिसको प्रीति है, उसे वात्सल्य गुण है। धर्मी को राग का व व्यवहार-रत्नत्रय का प्रेम नहीं होता तथा पर के प्रति जो राग अज्ञान दशा में था, वह भी सर्वांश से नष्ट हो गया है, अतः ऐसे धर्मी को ही वात्सल्यगुण का धारक कहा गया है, अन्य को नहीं।

प्रश्नः— क्या देव-शास्त्र-गुरू के प्रति राग से भी लाभ नहीं होता?

उत्तरः— अरे भाई! पर से किंचित् भी लाभ मानना अज्ञान है, पर से लाभ मानने में आत्मा की अपार हानि होती है तथा देव-शास्त्र-गुरू भी प्रत्यक्ष परद्रव्य हैं। अरे भाई! लाभ तो अपने ध्रुवस्वभाव से होता है,

जहाँ अनंत ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ पड़ी हैं — ऐसे अपने त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी को जान और उसमें ही प्रीति कर! वही सच्चा वात्सल्यगुण है।

बाह्य व्यवहार में देव-शास्त्र-गुरू की भक्ति से मुक्ति मानना भ्रम है, क्योंकि धर्म का व मुक्ति का ऐसा स्वरूप ही नहीं है। पराश्रय से न धर्म प्रगट होता है और न मुक्ति ही होती है। इसलिए मोक्षार्थी जीवों को सर्वप्रथम पर के आश्रय से धर्मलाभ व मोक्ष प्राप्त करने की मान्यता का त्याग करके स्वरूप में एकाग्र होना योग्य है तथा उसी में लीन होकर स्थिर रहना योग्य है। तेरा परमात्मस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा तेरे अन्दर सदा विद्यमान है, तू उसी में प्रीति कर! यही तेरा सच्चा वात्सल्यगुण है।

(8) अब अन्तिम प्रभावना गुण की बात करते हैं— ज्ञानी समस्त ज्ञानशक्ति की प्रगटता का प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होने से जिनमार्ग की प्रभावना करनेवाला है। इसकारण ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से होनेवाला बन्ध ज्ञानी के नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

गाथा २३६ के भावार्थ पर प्रवचन

'प्रभावना अर्थात् प्रगट करना, उद्योत करना आदि' अहा! आत्मा स्वयं पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चिद्रूप स्वरूप प्रभु है। उसमें एकाग्र होकर समस्त चित्शक्ति को पर्याय में प्रगट करने का नाम प्रभावना है। भाई! दुनियाँ तो बाहर की पूजा-पाठ, पंचकल्याणक, रथयात्रा आदि को प्रभावना मानता है; परन्तु यहाँ यह कहा जा रहा है कि जिसके द्वारा आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास हो, वही सच्ची प्रभावना है। अतः अन्तर एकाग्रता ही सच्ची प्रभावना है, क्योंकि इसी से आत्मा की अव्यक्त शक्तियाँ प्रगट होती हैं।

अहा! तू पूर्ण स्वरूप से ही प्रभु परमेश्वर है। तेरी उस परम ईश्वरता को पर्याय में प्रगट करना ही सच्ची प्रभावना है।

भगवान आत्मा 'श्री' अर्थात् स्वरूपलक्ष्मी — चैतन्यलक्ष्मीवाला है। अहा! अनंत-अनंत शक्तियों से युक्त, अनंतगुणों का भंडार प्रभु आत्मा स्वयं श्रीमंत है। ऐसे भगवान आत्मा की समस्त शक्तियों को पूर्ण रूप से विकसित करने का नाम प्रभावना गुण है। इसलिए जो अपने ज्ञानगुण को निरन्तर के अभ्यास से प्रगट करता है, बढ़ाता है, उसे प्रभावना अंग कहते हैं।

देखो, यहाँ यह कहा है कि अपने ज्ञानस्वरूप व आनन्दस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने का निरन्तर अभ्यास करने से आत्मशक्तियाँ प्रगट

होती हैं, शक्तियों का पर्याय में विकास होता है। बस, उसी को प्रभावना कहते हैं। बाहरी व्रत, उपवास आदि पुण्य की क्रियाओं को लौकिकजन प्रभावना मानते हैं, पर वह प्रभावना का यथार्थ स्वरूप नहीं है।

प्रश्नः— पुण्य करते-करते धर्म प्रगट होता है न?

उत्तरः— अरे भाई! ऐसा कभी नहीं होता। अपने स्वरूप में एकाग्र होने से ही धर्म प्रगट होता है, राग में एकाग्रबुद्धि होने से कभी भी धर्म प्रगट नहीं होता। राग में चैतन्य का निधान भगवान आत्मा नहीं है। राग तो जड़- अज्ञानमय भाव है, उसमें एकाग्र होनेवाला अथवा उससे लाभ माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है। अरे भाई! इस मनुष्यदेह में वर्तमान काल में यदि यथार्थ समझ नहीं की एवं आत्मा को ख्याल में नहीं लिया तो अवसर चूक जाने पर फिर कब करेगा?

भाई ! तू भगवान आत्मा के सिवाय सब-कुछ भूल जा! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि राग को भूल जा एवं रागरहित अन्दर जो चैतन्य भगवान है, मात्र उसे ही याद कर! यहाँ चैतन्यतत्त्व के सिवाय सभी जो रागादि को भुलाने की बात कही है, उसका तात्पर्य यह है कि रागादि परवस्तु है, अतः तू पर से लक्ष्य हटा ले। इन रागादि में रखड़ने से तुझे अपने भगवान आत्मा की उपलब्धि नहीं होगी।

अहा! कहते हैं कि तू वस्तु है न? यदि वस्तु है तो फिर तेरा कोई स्वभाव भी होगा या नहीं? होगा, तो वह स्वभाव क्या है? कैसा है? इसका स्वयं विचार करके देख न! अरे प्रभु! तू आत्मवस्तु है, चैतन्यपदार्थ है तथा ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता आदि अनंत गुणमय तेरा सत्व है। अहा! तू अनंत शक्तिस्वभावों के रस के बना एक पिण्ड प्रभु आत्मा है, उन शक्तियों में एकाग्रता का निरन्तर अभ्यास करना ही आत्मतत्व की सच्ची प्रभावना है।

अहा! देखो भाई! समकित का पद ही एक ऐसा पद है, जिसे प्रगट कर धर्मी जीव समस्त ज्ञान व आनन्द शक्ति की प्रगटतारूप प्रभावना करनेवाला हो जाता है। लौकिक पद तो केवल पाप के ही पद हैं, अतः वे पद नहीं, बल्कि आत्मा के लिए वे सब अपद हैं। कितनी मेहनत करके हिंसा करके लोग डॉक्टर बनते हैं, कितना परिश्रम करके वकील बनते हैं। कितनी शक्ति व श्रम लगाकर लोग इंजीनियर बनते हैं, पर उन डिग्रियों से उन्हें मिला क्या? केवल पाप की पुंजरूप भोग सामग्री ही उससे इकट्ठी करते हैं। पेट के लिए रोटी और रहने के लिए मकान तो पशुओं को भी मिलता है। पुण्य का योग हो तो कुत्ते के पिल्ले भी

प्रश्नः– यदि आप ऐसा कहेंगे कि गजरथ आदि चलाना निश्चय से प्रभावना नहीं है, तो लोग जिनमंदिर बनवाना, पंचकल्याणक करवाना, गजरथ चलाना आदि प्रभावना के कार्य बन्द कर देंगे?

उत्तरः– अरे भाई! हमने इतना स्पष्ट तो कह दिया कि यह व्यवहार-प्रभावना है और ज्ञानी को ऐसे भाव अवश्य होते हैं, धर्मी को ऐसे व्यवहार-प्रभावना के शुभभाव हुए बिना नहीं रहते, पर यह कोई निश्चय से प्रभावना नहीं है – ऐसा वह बराबर जानता है। तथा अज्ञानी तो अनादि से जो कुछ भी करता है, वह सब अन्यथा ही करता है; क्योंकि उसे अन्तर में आत्मभान न होने से एवं आत्मा में एकाग्रता का अभ्यास न होने से प्रभावना गुण ही प्रगट नहीं हुआ है। अतः अज्ञानी के निश्चय एवं व्यवहार दोनों ही प्रभावना नहीं होतीं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि - ज्ञानी के निःशंकित आदि आठ गुण निर्जरा के कारण कहे हैं। इसीप्रकार अन्य सम्यक्त्वादि गुणों को भी निर्जरा के ही कारण जानना चाहिए। अर्थात् इन आठ के सिवाय आनंद, शान्ति आदि जो अन्य गुण हैं, वे भी निर्जरा के ही कारण हैं – ऐसा जानना चाहिए।

अब कुछ और विशेष कहते हैं – इस ग्रन्थ में निश्चयप्रधान कथन होने से निःशंकित आदि गुणों का निश्चयस्वरूप (स्व-आश्रित स्वरूप) बताया है। तथा इन गुणों के सद्भाव में, चारित्रमोह के उदय रूप शंकादि प्रवर्ते, तो भी शंकादि की निर्जरा ही होती है, नया बंध नहीं होता; क्योंकि बंध तो मुख्यतया मिथ्यात्व की उपस्थिति में होता है। देखो, धर्मी को चारित्रमोह के उदय संबंधी थोड़ा-थोड़ा रागादिभाव होता है; परन्तु वह तत्त्वज्ञान के बल से खिर जाता है। तथा नया बंध नहीं होता, क्योंकि बंध तो मुख्यरूप से मिथ्याश्रद्धा से ही होता है। समकिती को जो चारित्रमोह से किंचित् राग होता है, उस राग से किंचित् बंध भी होता है, परन्तु यहाँ उसे गौण किया गया है। अतः ऐसा कहा है कि ज्ञानी के बंध होता ही नहीं है।

सिद्धान्त-शास्त्रों की गुणस्थान परिपाटी में चारित्रमोह के उदय के निमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बंध कहा है, उसे भी निर्जरारूप ही जानना, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को पूर्व में मिथ्यात्व के उदय के समय बंधा हुआ कर्म भी खिर जाता है, उसीप्रकार नवीन बंधा हुआ कर्म भी खिर जाता है, उसके उस कर्म के स्वामीपने का अभाव होने से वह कर्म आगामी बन्धरूप नहीं है, निर्जरा रूप ही है।

मेमसाहब की गोदी में पलते हैं, इसमें क्या है? इसके लिए इतना श्रम और इतना पाप करता है और जन्म-जन्म का दुःख दूर होवे – ऐसे आत्मा – की धर्म की प्राप्ति के लिए कुछ भी समय नहीं निकालता। अरे! अवसर चूकने पर पछतावा ही रह जायगा। अतः समकित को ग्रहण कर! यही एक सच्चा पद है, शेष सब पद अपद हैं।

अहा! आत्मा ज्ञानादि गुणों का गोदाम है। प्रभु! तुझे अपने निज स्वरूप की खबर नहीं है। भाई! जिसका स्वरूप भगवान की वाणी में भी पूरा नहीं आ सकता, तू तो ऐसा वचनातीत, इन्द्रियातीत, विकल्पातीत, अनादि-अनंत गुणों का गोदाम है। ऐसे अपने स्वरूप में अन्दर ढलकर एकाग्रता के अभ्यास से शक्तियों की व गुणों की प्रगटता करने का नाम ही निश्चय से प्रभावना है एवं यही धर्म है। बाकी तो धर्म के नाम पर बाहर की क्रियायें लोग करते हैं, वे सब कथन मात्र धर्म की क्रियायें हैं, उनमें धर्म नाममात्र भी नहीं है। हाँ, यदि अंतरंग में आत्मा की शक्तियाँ प्रगट हो गई हों तो उनके साथ बाहर की धर्मक्रियाओं को व्यवहार से धर्म कहा जाता है।

धर्मी जीव निरन्तर अपने विज्ञानघन स्वभावी आत्मा में एकाग्रता का अभ्यास करते हुए वीतराग-विज्ञान को प्रगट करता है; अतः उसके अप्रभावनाकृत बंध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

इस गाथा में निश्चय प्रभावना का स्वरूप कहा है। जिसप्रकार जिनबिम्ब को रथ में विराजमान करके नगर में रथयात्रा वगैरह से व्यवहार प्रभावना की जाती है, उसीप्रकार जो विद्यारूपी रथ में (ज्ञानरथ में) आत्मा को स्थापित करके मनरूपी मार्ग में भ्रमण करते हैं, वे ज्ञान की प्रभावना करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं, वे निश्चय प्रभावना करनेवाले हैं। देखो, भगवान-वीतराग सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को रथ में विराजमान करके नगर में घुमाना तो व्यवहार प्रभावना है, शुभभाव है। ज्ञानी के भी ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु यह कोई वास्तविक प्रभावना नहीं है। निश्चय प्रभावना तो परम वीतराग-स्वभावी जिनस्वरूपी भगवान आत्मा को अपने ज्ञान की पर्याय में स्थापित करके उसी में ही रमणता करना है। जो ज्ञानरूपी रथ में आत्मा को स्थापित करके अर्थात् वर्तमान ज्ञान की निर्मलपर्याय में निज आत्मा को स्थापित करके ज्ञानरूपी मार्ग में अर्थात् शुद्धरत्नत्रयरूपी मार्ग में भ्रमण करता है, वह ज्ञानी ज्ञान की प्रभावना युक्त सम्यग्दृष्टि है।

अहा! देखो, समकिती को पूर्वकर्म का उदय तो निर्जरा रूप है ही; साथ ही जो नवीन कर्म बंधता है, वह भी निर्जरा रूप ही है। अहा! भगवान आत्मा का जहाँ भान हुआ, श्रद्धान हुआ, वहाँ पूर्वकर्म का उदय राग नहीं कराता; किन्तु जो अल्पराग होता है उसकी भी निर्जरा हो जाती है, क्योंकि ज्ञानी के जो अल्पबंध होता है वह भी निर्जरा रूप ही है। अहो! सम्यग्दर्शन की कोई अचिंत्य महिमा है।

इसके विपरीत मिथ्याश्रद्धान महा कष्टदायक अत्यन्त निकृष्ट है। उसकी उपस्थिति में जीव को दया-दान, व्रत-तप, भक्तिपूजा आदि के भरपूर शुभभाव होने पर भी मिथ्यात्व का महापाप बंधता ही रहता है।

अहा! 'पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण पवित्र प्रभु स्वरूप भगवान आत्मा अन्तर में नित्य विराजमान है।' – जिसे अपने निज ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा की ऐसी दृष्टि प्राप्त हो गई है, वह सम्यग्दृष्टि है। यहाँ कहते हैं कि समकिती को पूर्वकर्म का उदय (अनन्तानुबंधी सम्बन्धी)राग कराने में समर्थ नहीं है तथा उसके उदय में जुड़ने से जो किंचित् राग होता है, वह भी उदय में आकर खिर जाता है एवं थोड़ा-बहुत जो नवीन कर्मबंधता भी है, वह भी अल्पकाल में खिरने ही वाला है; क्योंकि उसे कर्मो का स्वामीपना नहीं रहा। वह कर्मों का स्वामी नहीं बनता, इसकारण वे कर्म भी आगामी बन्धरूप न होकर निर्जरारूप ही हो जाते हैं।

जिसप्रकार कोई पुरुष पराये धन को उधार या धरोहर रूप में रखे तो उसकी उस धन में ममत्वबुद्धि नहीं रहती। वर्तमान में उस धन से यदि कोई अपना काम निकालना होवे तो भले निकाल ले, परन्तु उसे यथासमय वादा के अनुसार लौटा देता है। जबतक वादा पूरा नहीं हुआ हो, तबतक वह द्रव्य भले अपने घर में रखा रहे, तो भी उसके प्रति अपनत्व-ममत्व नहीं होने से उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन या बोझा नहीं होता, धनी को दे देने के बराबर ही है। चाहे यहाँ (अपने घर) रखा रहे, चाहे धनी के घर चला जावे। उसीप्रकार ज्ञानी कर्मों को पराया जानता है, अतः उसे उन कर्मों के प्रति ममत्व नहीं होता, उससे वे मौजूद होते हुए भी निर्जरित हुए के समान ही हैं।

देखो भाई! जिसप्रकार कोई गरीब व्यक्ति के घर बेटे की शादी का प्रसंग हो तो नह व्यक्ति किसी सेठ से शादी के अवसर पर दूल्हे को पहनने के लिए जवाहरात के कंठा (हार) आदि लाता है तथा शादी सम्पन्न होते ही उसे लौटाने की चिन्ता भी रखता है, उसे अपनी सम्पत्ति नहीं मानता; क्योंकि उसे उसमें ममत्वबुद्धि नहीं है। इसीतरह धर्मी कर्मो

का स्वामी नहीं बनता। नियत समय तक – काम निबटने तक वह कंठा (हार) घर में ही रहे, तो भी उसे उसके प्रति अपनेपन का भाव नहीं होने से घर रखा हुआ भी दे दिया जैसा ही है। उसीप्रकार धर्मी को कर्म – राग के प्रति अपनेपन का भाव नहीं होने से, वह उसे पराया धन (पराई वस्तु) समझता है, अतः उसे किंचित् कर्म मौजूद रहने पर भी निजरित हुए समान ही है।

अहा! धर्मी को शुद्ध चैतन्य की प्रभुता में अपनापन प्रगट भासित हुआ है तथा उसे कर्म में (राग में) अपनापन नहीं है, इससे अल्पराग व कर्म मौजदू रहे तो भी वह निर्जरारूप ही है। अहो! पंडित जयचंदजी छावड़ा ने अपने हिन्दी के भावार्थ में कितनी सरस बात कही है। वे कहते हैं कि ज्ञानी को थोड़ा कर्म (राग) आता है तो भी वह उसे पराई वस्तु मानता है तथा अपने संग रखने से उन्हें अपना नहीं मानता – स्वयं उसका स्वामी नहीं होता। अतः वह कर्म सत्ता में पड़ा हुआ भी निर्जरित हुए समान ही है।

अब कहते हैं कि जिसे निःशंकित आदि निश्चय गुण प्रगट नहीं हुए हैं, उनके ये निम्नांकित आठों व्यवहार गुण बाहर में दिखाई देने पर भी वे व्यवहार नाम नहीं पाते।

देखो, १५५वीं गाथा में यह बात आ चुकी है कि जीवादि पदार्थो का श्रद्धानस्वभाव से ज्ञान का परिणमना सम्यग्दर्शन है। अहाहा......! जीवादि पदार्थो का श्रद्धान स्वभाव से परिणमने का अर्थ है – जीवादि तत्त्वों के स्वभाव के अनुसार आत्मा का परिणमना। ज्ञान का परिणमन अर्थात् आत्मा का परिणमन। अहा! आत्मा शुद्ध एक ज्ञायक स्वरूप है, उसका निर्मल-शुद्धरूप-स्वाश्रित परिणमन करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन धर्म की प्रथम सीढ़ी है। ऐसे सम्यग्दर्शन में निःशंकित आदि आठ निश्चय गुण प्रगट होते हैं तथा वे निर्जरा के कारण बनते हैं। तथा जो व्यवहार आठ अंगों का वर्णन करेंगे, यद्यपि वे पुण्यबंध के कारण हैं तथापि वे ज्ञानी के होते हैं। जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती, तबतक ज्ञानी के निःशंकितादि आठ व्यवहार गुण भी होते हैं।

अब कहते हैं कि ये निःशंकित आदि आठ गुणों को व्यवहारनय से व्यवहार मोक्षमार्ग पर घटित करना।

प्रश्नः– व्यवहारनय से व्यवहार मोक्षमार्ग लगाने की बात जो कही गई है, सो व्यवहारनय तो पराश्रित होता है? कहा भी है – "स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः" तो क्या मोक्षमार्ग पराश्रित भी होता है?

समाधानः– अरे भाई! व्यवहार मोक्षमार्ग तो उपचार से कहा जाता है। जिसे अंतरंग में शुद्ध चैतन्य के परिणमन रूप वास्तविक मोक्ष मार्ग प्रगट हुआ है, उसे जबतक पूर्णता – पूर्णशुद्धता नहीं हुई तबतक पराश्रित रूप निःशंकितादि व्यवहार का भाव होता है और उसे उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। अर्थात् वह मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग की दशा के साथ रहा हुआ पराश्रितभाव है। अतः उसे मोक्षमार्ग का सहचर जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहने में आता है। ऐसे मोक्षमार्ग को निम्नलिखित अनुसार लगानाः–

(१) जिनवचन में संदेह न करना, भय आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगने को व्यवहार से निःशंकित अंग कहते हैं।

देखो, निश्चय में वस्तु स्वयं पूर्ण विज्ञानघन स्वरूप है, उसमें संदेह न होना और व्यवहार में जिनवचनों में संदेह न होना तथा बाहर में चाहे जैसा प्रतिकूलता का प्रसंग बने, तो भी व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगना निःशंकितपना है।

(२) संसार-देह-भोग की वांछा से तथा परमत की वांछा से व्यवहार मोक्षमार्ग से नहीं डिगना निःकांक्षित गुण है।

अहा! देखो, निश्चय से जिसको पुण्य व पुण्य के फलों की अथवा किसी अन्य वस्तु की व अन्य धर्मों की वांछा नहीं है, उसे बाह्य संसार, देह व भोगों की वांछा नहीं है, वह बाहर संसार देह व भोगों की वांछा से अथवा परमत की वांछा से व्यवहार मोक्षमार्ग से डिगता नहीं है। अतः वह निकांक्षित गुण का धारी है।

प्रश्नः– ज्ञानी के भी तो शंका-कांक्षा होती देखी जाती है न?

समाधानः– हाँ होती है, ज्ञानी के अतिचार रूप में ये दोष होते हैं; परन्तु अनाचार रूप से नहीं होते। थोड़ासा अस्थिरताजनित अल्पराग ज्ञानी को भी होता है, परन्तु उसकी यहाँ गिनती नहीं की।

(३) अपवित्र दुर्गन्धवाली वस्तुओं के निमित्त से व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा है।

(४) देव-गुरु-शास्त्र में, लोक की प्रवृत्ति में तथा अन्य मतादिक के तत्त्वार्थ का स्वरूप आदि में मूढ़ता न रखना एवं इन्हें यथार्थ जानकर प्रवर्तन करना अमूढ़दृष्टि अंग है।

देखो, परमत में भी सच्चे देव, सच्चे गुरु व सच्चे शास्त्र होते होंगे – ऐसी मूढ़ता न करना। अन्य मतावलम्बियों में बड़े-बड़े संत महात्मा

हुए हैं, जिन्हें बड़े-बड़े, पढ़े-लिखे और बुद्धिमान व्यक्ति पूज्य मानते हैं। अतः उनमें भी कुछ न कुछ सत्य-तथ्य तो होना ही चाहिए, अन्यथा उन्हें कोई क्यों मानता – पूजता? ऐसे तर्क-वितर्कों में न पड़ना अमूढ़दृष्टि अंग है। भाई! जैनदर्शन के आन्तरिक वस्तुस्वरूप के सिवाय अन्यत्र कहीं भी सत्यमार्ग है ही नहीं – ऐसी यथार्थ वस्तुस्वरूप की स्थिति जानकर सच्चे मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना ही अमूढ़दृष्टि गुण है।

प्रश्नः– जिसप्रकार आप जैनदर्शन को ही मात्र सत्य मानते हैं, उसीप्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने मतों को ही सत्य व श्रेष्ठ मानते हैं – इसमें जैनदर्शन की क्या विशेषता रही?

समाधानः– भले ही सभी अपने-अपने मत को सत्य कहें; परन्तु जो परस्पर विरोधी मत हैं, उनके कहने से सभी तो सत्य नहीं हो सकते। उनमें से कोई एक ही तो सत्य होगा यदि कोई असत्य कहे तो वह सत्य कैसे हो सकता है? जो तर्क, युक्ति, आगम व अनुभव से सत्य सिद्ध हो, वही सत्य हो सकता है, सभी नहीं।

देखो, निश्चय व व्यवहार – दोनों साथ-साथ होते हैं, परन्तु कोई ऐसा कहे कि – 'व्यवहार से निश्चय होता है' तो वह जैनमत से बाह्य है, वह जैनमत छोड़कर अन्यमती हो गया है; क्योंकि जैनमत की ऐसी मान्यता ही नहीं है। यदि ऐसा माने कि व्यवहार से निश्चय होता है तो दोनों एक ही हो जायेंगे, दोनों भिन्न-भिन्न रहेंगे ही कहाँ? राग व वीतरागता – दोनों एकमेक हो जायेंगे। अहा! जिनमत का तो सिद्धान्त ही अलौकिक है, सबसे जुदा है। वीतराग स्वभावी पूर्णशुद्ध चैतन्यघन आत्मा के आश्रय से जो वीतराग परिणति प्रगट होती है, वही धर्म है। इसके सिवाय अन्य कोई रागरूप धर्म होता ही नहीं है। वीतरागभाव से धर्म प्रगट होना मानने के बदले राग से व पुण्य से धर्म होना मानना अन्यमत की मान्यता है। ज्ञानी के भी यथास्थान व्यवहार (राग) होता है, परन्तु वह उसमें धर्म माननेरूप मूढ़ता नहीं करता। वीतराग का मार्ग तो वीतरागतामय ही है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के देवमूढ़ता, गुरूमूढ़ता व शास्त्रमूढ़ता नहीं होती। देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को यथार्थ जानकर तदनुरूप प्रवर्तन करना अमूढ़दृष्टि अंग है।

(५) किसी धर्मात्मा में कर्म के उदय से व वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से दोष आ जावे तो उसे गौण करके अथवा उसे प्रगट न करके, उस दोष को गुप्त रखकर व्यवहार-मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना उपगूहन अंग है।

देखो, धर्मात्मा के जीवन में कोई दोष लग जावे तो उसे गौण करके उसका गोपन करना उपगूहन है; परन्तु यह तो धर्मात्मा की वात है, जिसकी दृष्टि ही मिथ्या हो तथा जिसके दोषों का कोई पार ही न हो, जो धर्मात्मा के वेष में दुनिया को ठगता हो, उसके दोष छिपाने की यह वात नहीं है। अहा! धर्मी जीव को कर्मोदय के वश कदाचित् कोई दोष लग जावे तो उसे गौण करना और व्यवहार-मोक्षमार्ग की परम्परा को वढ़ाना उपगूहन या उपवृंहण गुण होता है। उपगूहन गुण के नाम पर किसी भी अज्ञानी को दोषों के वढ़ाने का प्रोत्साहन देना ठीक नहीं है।

(६) "व्यवहार-मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए धर्मी जीवों को मोक्षमार्ग में स्थिर करना व्यवहार स्थितिकरण अंग है।" निश्चय में निश्चय मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को आत्मा में स्थिर करना कहा था और यहाँ व्यवहार मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए धर्मी जीवों को मोक्षमार्ग में व आत्मा में स्थिर करने को कहा है।

(७) "व्यवहार-मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने पर विशेष अनुराग होना वात्सल्यगुण है।"

निश्चय में निर्मल रत्नत्रयरूप धर्म में प्रेम होने की वात थी, जवकि यहाँ व्यवहार-वात्सल्य गुण में धर्मात्माओं के प्रति अनुराग होने की वात है। सहज ही धर्मी को धर्मात्मा के प्रति विशेष अनुराग होता है। इसे ही व्यवहार से वात्सल्यगुण कहते है।

(८) अनेक उपयों से व्यवहार-मोक्षमार्ग का उद्योत करना व्यवहार प्रभावनागुण है। निश्चय में तो स्वाश्रय से रत्नत्रय के तेज द्वारा आत्मा की प्रभावना करना निश्चय-प्रभावना गुण है। और व्यवहार में दान, तप, जिनपूजा, रथयात्रा आदि द्वारा जिनशासन की प्रभावना करना व्यवहार प्रभावना गुण है।

इसप्रकार आठ गुणों का स्वरूप निश्चयनय व व्यवहारनयों के द्वारा कहा। निश्चयप्रधान कथन में व्यवहार स्वरूप गौण रहता है और व्यवहारप्रधान कथन में निश्चय स्वरूप गौण हो जाता है। तथा सम्यग्ज्ञान प्रमाण की दृष्टि में दोनों प्रधान रहते हैं। स्याद्वाद मत में कहीं विरोध नहीं है। दोनों नयों की कथन शैली को यथायोग्य समझकर अर्थ समझ लेना चाहिए।

इस निर्जरा अधिकार में तो पूर्णानन्द के नाथ प्रभु आत्मा के आश्रय से समकित प्रगट होने पर धर्मी को जो निश्चय निःशंकितादि गुण प्रगट होते हैं, उनकी मुख्यता से कथन है।

कलश १६२

(मन्दाक्रान्ता)

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य।।१६२।।

इति निर्जरा निष्क्रांता ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जरा-प्ररूपकः षष्ठोंकः।

अव, निर्जरा के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले और कर्मो के नवीन बन्ध को रोककर निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टि की महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते हैं:—

श्लोकार्थः—[**इति नवम् बन्धं रुन्धन्**] इसप्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और [**निजैः अष्टाभिः अंगैः संगतः निर्जरा-उज्जृम्भणेन प्राग्बद्धं तु क्षयम् उपनयन्**] (स्वयं) अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**स्वयम्**] स्वयं [**अतिरसात्**] अति रस से (निजरस में मस्त हुआ) [**आदि-मध्य-अन्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा**] आदि-मध्य-अन्त रहित (सर्वव्यापक, एकप्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर [**गगन-आभोग-रंग विगाह्य**] आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (ज्ञान के द्वारा समस्त गगनमण्डल में व्याप्त होकर) [**नटति**] नृत्य करता है।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बंध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त होने से निर्जरा का उदय होने के कारण उसके पूर्व में

हुए बन्ध का नाश होता है। इसलिये वह धारावाही ज्ञानरूपी रस का पान करके, निर्मल आकाशरूपी रंगभूमि में ऐसे नृत्य करता है, जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमि में नाचता है।

प्रश्न:– आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता; किन्तु सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के बन्ध कहा गया है। और घातिकर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना; इसलिये दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य–इन गुणों का घात भी विद्यमान है। चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोह के उदय में भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यों न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता।

उत्तर:– बन्ध के होने में मुख्य कारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीका उदय ही है; और सम्यग्दृष्टि के तो उनके उदय का अभाव है। चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख गुण का घात होता है तथा मिथ्यात्वअनन्तानबन्धी और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष घातिकर्मों की प्रकृतियों का अल्प स्थिति अनुभाग- वाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का बन्ध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित होता है वैसा नहीं होता। अंनत संसार का कारण तो मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहां अन्य बन्ध की गणना कौन करता है? वृक्ष की जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहने की अवधि कितनी होती है? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यतया ज्ञानी अज्ञानी होने के सम्बन्ध में ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होने के बाद जो कुछ कर्म रहे हों, वे सहज ही मिटते जायेंगे।

निम्नलिखित दृष्टान्त के अनुसार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। कोई पुरुष दरिद्रता के कारण एक झोंपड़े में रहता था। भाग्योदय उसे धन-धान्य से परिपूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हो गई, इसलिये वह उसमें रहने को गया। यद्यपि उस महल में बहुत दिनों का कूड़ा-कचरा भरा हुआ था, तथापि जिस दिन उसने आकर महल में प्रवेश किया उस दिन से ही वह उस महल का स्वामी हो गया, सम्पत्तिवान हो गया । अब वह कूड़ा-कचरा साफ करना है, सो वह क्रमशः अपनी शक्ति के अनुसार साफ करता है। जब सारा कचरा साफ हो जायेगा और महल उज्जवल हो जायेगा, तब वह परमानन्द को भोगेगा। इसीप्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए।।१६२।।

कलश १६२ पर प्रवचन

"इति नवम् बन्धं रुन्धत्" इसप्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और अपने आठों अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव

अहा! परम आनन्दरस में निमग्न सम्यग्दृष्टि नवीन बन्ध को रोक देता है तथा उसके निःशंकितादि आठ गुण प्रगट होने से, वह कर्म की निर्जरा करनेवाला है। उसके निरंतर शुद्ध ज्ञानमय परिणमन होने से वह पूर्वबद्ध कर्मों का नाश कर देता है। अहा! शुद्ध ज्ञानमय परिणमन की कोई अचिंत्य महिमा है। इसके बिना बाहर में चाहे जितनी धार्मिक क्रियायें करे, वे सब व्यर्थ हैं।

प्रश्नः- अज्ञानी कहता है कि सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता—यह बात तो ठीक है; परन्तु अमुक व्यक्ति को सम्यग्दर्शन हो गया है – इसका पता कैसे चले? यह तो केवलज्ञान गम्य ही है न? इसलिए आगम में कही गई जो व्यवहार व्रतादि साधनरूप क्रियायें हैं, उन्हें मोक्षमार्ग मानना चाहिए न?

उत्तरः– अरे भाई! समकित की खबर नहीं पड़ती – यह कहना की अज्ञान है। मिथ्यात्व दशा में रहनेवाले को सम्यग्दर्शन की खबर नहीं पड़ती, यह बात तो ठीक है, पर केवली के सिवाय कोई जान ही नहीं सकता यह मानना अज्ञान है। व्रत-तप आदि को साधन समझकर उसी में लीन (मग्न) रहना मिथ्यात्व में रहना ही है। उसे तो समकित की गंध भी नहीं आती।

यहाँ कहते हैं कि "सम्यग्दृष्टि जीव अतिरस से अर्थात् निजरस में मग्न रहता हुआ...."

देखो, सम्यग्दृष्टि आनंद के रस में – चैतन्य के रस में मस्त रहता है। अहा! धर्मी की दशा अतीन्द्रिय आनन्द के रस में भीग चुकी है। जहाँ अज्ञानी विषय-कषाय के रस में डूबा है, वहीं सम्यग्दृष्टि शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप में उत्पन्न हुए आनन्द के रस में सराबोर हो रहा है। अरे! विषयकषाय का रस तो महान जहरीला रस है, आकुलता उत्पन्न करनेवाला जहर है। उसमें समकिती कैसे मग्न हो सकता है? अहा! शुद्ध चैतन्यघन भगवान आत्मा आनन्द से ठसाठस भरा हुआ आनन्दघन है। उसमें एकाकार हुई धर्मी की निर्मल परिणति निजरस में मस्त हुई है, निराकुल आनन्द के रस में मस्त हो गई है। उस स्वयं की अस्ति की

मस्ती के आगे उसे इन्द्र का इन्द्रासन भी फीका लगता है और जहर की भाँति भासित होता है। भाई! समकिती की अन्तरदशा कोई अद्‌भुत और अलौकिक होती है।

देखो, यहाँ 'स्वयं' व 'अतिरसात्' ये दो शब्द हैं, उसमें 'अतिरसात्' की व्याख्या तो हुई। अब 'स्वयं' शब्द पर विचार करते हैं। कहते हैं कि 'स्वयं' परिणमती है – अर्थात् वस्तु अपने रूप परिणमन करती है, जबकि उसका वास्तविक अर्थ यह है कि वस्तु स्वतंत्रपने अपने से ही परिणमती है। अज्ञानी के निमित्ताधीन दृष्टि होने से यह स्वतंत्र परिणमन की बात उसे बैठती नहीं है। जबकि यहाँ पूरा जोर स्वतंत्रपने अपने से ही परिणमन करने पर दिया गया है।

प्रश्नः– तो क्या सम्यग्दृष्टि की बाहर से पहचान संभव है? क्या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सम्यग्दर्शन की पहचान कर सकता है?

समाधानः– जगत में ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो जानने में न आ सके और जाननेवाला क्या नहीं जानता? अहा! जब ज्ञान का स्वभाव ही जानने का है तो फिर वह क्यों नहीं जान सकेगा? अवश्य जान सकता है। जिसके अन्दर ज्ञानस्वभाव प्रगट हो गया है, वह क्यों नहीं जानेगा? धवल शास्त्र में मतिज्ञान के प्रसंग में अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा की चर्चा में यह बात आई है कि यह जीव भव्य है या अभव्य? इस पर विचार करते हुए वहाँ कहा गया है कि जब ज्ञानी ऐसा विचार करता है, तब उसे अंतरंग में ऐसा भासित होता है कि इसे सम्यदर्शन-ज्ञान-चारित्र है; इसलिए वह भव्य ही है।

अरे! भगवान! तेरा ज्ञान क्या नहीं जानता? 'न जाने' ऐसी बात ज्ञान में होती ही नहीं है। ज्ञान स्व को जाने, पर को जाने, भगवान आत्मा स्वयं को भी जाने एवं अन्य सभी को जाने – ऐसी सामर्थ्य ज्ञान में है।

प्रश्नः– जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट न हुए हों, उन्हें भी "भव्य हैं या नहीं" ज्ञान ऐसा जानता है या नहीं?

समाधानः– जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं, उसे ही वह ज्ञान भव्यरूप से जानता है। जिसे रत्नत्रय प्रगट नहीं हुआ, उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भव्यजीव की लायकात सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होने पर ही ज्ञात होती है – ख्याल में आती है। मात्र बाहर में व्यवहार से नहीं, बल्कि अन्दर में निश्चय से निर्णय होता है। अहा! सारा जगत बाहर में – विषय कषाय में व राग में ठगा जा रहा है।

अहा! बापू! यह संसार तो नाटक है। यह शरीर-मन-वाणी सब नाशवान हैं, केवल एक आत्मा ही त्रिकाल स्थाई है, अविनाशी है। अहा! अज्ञानी को विषय-कषाय व पैसा, आबरू-इज्जत आदि के रस का जहर चढ़ गया है, इसकारण वह बेहोश – पागल हो रहा है तथा धर्मी अपने में अपने से निजानंद रस में मस्त – निमग्न हो गया है। उसके आनंदरस में कोई अन्य भागीदार नहीं है। तथा वह भी किसी के सुख-दुःख का भागीदार नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी – समकिती को तो आत्मा के आनन्द का रस लग गया है और कषाय का रस छूट गया है। वह अपने निजरस मे मस्त होकर, आदि-मध्य-अन्त रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञानमय होकर, आकाश के विस्तार रूपी रंगभूमि में नृत्य करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी सबका ज्ञाता-दृष्टा रहकर निजानन्द में मस्त रहता हुआ नृत्य करता है।

कलश १६२ के भावार्थ पर प्रवचन

"सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बंध तो होता ही नहीं है तथा स्वयं आठ अंग सहित होने के कारण निर्जरा का उदय होने से पूर्वबन्ध का नाश भी होना है।"

अहा! जिसे परमानन्दमय अपना चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा दृष्टि में आ गया, प्रतीति में आ गया है, उस सम्यग्दृष्टि जीव को शंकादिकृत नवीन बंध नहीं होता। शंका-कांक्षा आदि नहीं होने से नवीन बंध तो होता ही नहीं है, साथ ही आठ अंग होने से उसके पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा भी हो जाती है।

समकिती धारावाही शतत् ज्ञानामृत का पान करता है। जिसप्रकार प्यासा व्यक्ति गन्ने के रस को गटागट पी जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी निजानंद रस को गटागट पीता है। जिप्रकार कोई लौकिक जन मद्य पीकर नशे में मग्न होकर नाटक के रंगमंच पर मस्ती से नृत्य करता है, उसीप्रकार ज्ञानी आनन्दरूपी रस का पान करके आकाश रूपी रंगभूमि में नृत्य करता है अर्थात् वह निजानंद का उपभोग करता है। बस, इसी को धर्म करते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना बाकी बाहरी क्रियाकाण्ड सब व्यर्थ हैं।

प्रश्नः– सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है, बंध नहीं होता – ऐसा तुम बराबर कहते आ रहे हो; किन्तु सिद्धान्त शास्त्रों में गुणस्थानों की

परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह के भी बंध कहा गया है तथा घातिया कर्मों का कार्य आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करना है, इससे दर्शन, ज्ञान, सुख व वीर्य आदि गुणों का घात भी हो रहा है। चारित्रमोह का उदय नवीन बंध भी करता है। यदि मोह के उदय में बंध होना मानेंगे तो मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी का उदय होते हुए भी बन्ध नहीं होता – ऐसा क्यों नहीं मान लिया जायगा?

देखो! इस प्रश्न में प्रश्नकार ने मुख्यतया तीन बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो इसप्रकार हैं:-

(१) शास्त्रों में ज्ञानी के चौथे, पाँचवें गुणस्थान में बंध कहा गया है, तो भी आप कहते हो कि उनके बंध नहीं है। अतः यह बतायें कि क्या उनके वास्तव में बंध नहीं है? यदि है तो सिद्धान्त शास्त्रों में जो कथन है, वह किस अपेक्षा से है?

(२) उनके घातिया कर्मोंके द्वारा ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य गुण का घात होता है या नहीं? कृपया यह भी स्पष्ट करें?

(३) तथा चारित्रमोह के उदय के कारण ज्ञानी को नवीन बंध भी होता है। कृपया आप बतायें कि ज्ञानी के चारित्रमोह सम्बन्धी राग है या नहीं? यदि है तो नवीन बंध भी होगा ही, यदि चारित्रमोह के उदय में नवीन बंध न माना जाएगा तो मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व के उदय में व अनन्तानुबंधी का उदय होते हुए भी बंध नहीं होगा – ऐसा मानने में क्या बाधा है?

समाधानः– "बंध होने में मुख्य कारण मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय का उदय ही है तथा सम्यक्त्वी के तो इनके उदय का सर्वथा अभाव है।"

देखो, यही मूल बात है, जिसमें उपर्युक्त प्रश्नों का सम्पूर्ण समाधान निहित है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता तथा अनन्तानुबंधी का परिणमन ही बंध होने में मुख्य कारण है। मिथ्यात्व के साथ रही हुई कषाय अनन्तानुबंधी कषाय है। और इसे ही बंध का मुख्य कारण कहा गया है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व भी नहीं है और अनन्तानुबंधी कषाय भी नहीं है, उसके तो इन सभी का अभाव है।

अब कहते हैं कि –

"चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख-गुण का घात होता है तथा मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियों के

अतिरिक्त शेष घातिकर्मों की प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभाग-वाला बन्ध होता है, शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का बन्ध होता है; तथापि जैसा बन्ध मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के साथ होता है, वैसा बंध मिथ्यात्व के अभाव में नहीं होता।"

देखो, मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय की भूमिका में जैसा बंध होता है, वैसा बंध ज्ञानी के नहीं होता। इसी अपेक्षा से ऐसा कहा है कि ज्ञान के बंध नहीं होता।

"अनंतसंसार का कारण तो मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय ही है, उसका अभाव होने पर उनका बंध नहीं होता और ज्यों ही आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ फिर अन्य सामान्य बंधों की क्या गिनती?

देखो, मिथ्याश्रद्धान व अनन्तानुबंधी कषाय ही अनंतसंसार की वृद्धि का कारण है। यही बंध का व संसार का मूल कारण है। अहा! जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ, अनन्तसंसार का बंधन नहीं रहा तथा जो अल्प बंधन है, उसकी कोई गिनती नहीं अर्थात् उसे बंध की कोटि में गिना ही नहीं जाता। जैसे जहाँ करोड़ों का कर्जा चुक जाता है तो वहाँ १००-२०० रुपयों की क्या गिनती? वह तो चुका ही समझो। इसी प्रकार चारित्रमोह के अल्पबंध को मोक्षमार्ग में बंध ही नहीं गिना जाता। वृक्ष की जड कटने पर पत्तों के हरे रहने का क्या मतलब रहा? उनकी हरेपन की अवधि ही कितनी है, वे समय पाकर स्वयं की सूख जानेवाले हैं, अतः अब उन्हें कौन हरा मानता है? वह तो प्रक्षिपल स्वयं मुरझा ही रहे हैं। इसीतरह मिथ्यात्व के नष्ट होने पर किंचित् बंधन है, पर अब उन्हें पोषण देने वाले का नाश हो गया है; अतः उनकी अवधि लम्बी नहीं रही। इसकारण उनकी गिनती नहीं की जाती।

यह अध्यात्मशास्त्र है, इसमें सामान्यरूप से ज्ञानी-अज्ञानी की अपेक्षा से ही मुख्य कथन होता है। अस्थिरता की बात यहाँ मुख्य नहीं है। ज्ञानी होने के पश्चात् जो कोई कर्म शेष रह जाते हैं, वे स्वतः समय पाक खिर जाते हैं।

ज्ञानी के स्वरूप को समझने के लिए यहाँ दृष्टान्त देकर बताया है कि जिसप्रकार एक व्यक्ति दरिद्र होने के कारण झोपड़ी में रह रहा था। उसे भाग्योदय से धनसहित बड़े भारी महल की प्राप्ति हो गई और वह उस महल में रहने लगा। उस महल की बहुत समय से सफाई न होने के कारण उसमें बहुत भारी कूड़ा-कचरा भी भरा पड़ा था। यद्यपि वह व्यक्ति उस महल में रहने लगा, उसका मालिक भी बन गया; परन्तु

कूड़ाकचरा तो वह अपनी शक्ति व सुविधा के अनुसार धीरे-धीरे कइ दिनों में अनुक्रम से ही साफ कर सकेगा न? कोई एकाध दिन में तो इतना बड़ा महल साफ हो नहीं सकता और जब समस्त कूड़ा-कचरा साफ हो जायगा तथा महल उज्ज्वल बन जायगा, तभी वह उसमें रहने का पूरा आनन्द ले सकेगा। इसीप्रकार ज्ञानी के विषय में समझना चाहिए।

जिसप्रकार दृष्टान्त में उस व्यक्ति को भाग्योदय से धनसम्पदा सहित महल मिला, उसीप्रकार धर्मी को स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ से आनन्द के अनुभव सहित भगवान आत्मा प्राप्त हुआ है। अहा! जिसतरह झोपड़ी में रहने वाले को महल मिला और वह भी धन सहित, उसीतरह जो धर्मी जीव अबतक कषायरूपी झोपड़ी में रहता था, उसे ज्ञानानन्दमय आत्मा रूपी महल मिल गया है। अब वह आत्मारूपी महल का स्वामी तो हो गया, पर अभी कषायरूपी कचरा वहाँ है, जिसे वह विवेक की बुहारी से धीरे-धीरे निकालेगा– साफ करेगा।

अहा! धर्मी को पूर्व में अज्ञानभाव से जो कर्म बंधा था, वह कर्मरूपी कचरा अभी पड़ा है, परन्तु अब वह अनन्तलक्ष्मी के भंडार सहित भगवान आत्मा का स्वामी हो गया है। अहा! पुरुषार्थ की जागृति से या सम्यक्पने ज्ञानश्रद्धान होने से धर्मी जीव अनन्त चैतन्य सम्पदा सहित भगवान आत्मा का स्वामी हो गया है। देखो, वहाँ दृष्टान्त में तो भाग्योदय से लक्ष्मीयुक्त महल का स्वामी हुआ है; ऐसा कहा था और यहाँ दार्ष्टान्त में धर्मी जीव पुरुषार्थ की जागृति से चैतन्यलक्ष्मी रूप आत्मा का स्वामी हुआ है; दृष्टान्त व दार्ष्टान्त में इतना ही फेर है – अन्तर है।

अहाहा! आत्मा अनंत गुणरिद्धि से समृद्ध पूर्णज्ञान व आनन्द से भरा हुआ भगवान है। 'भग' अर्थात् ज्ञान व आनन्दरूप लक्ष्मी तथा 'वान' अर्थात् वाला – इसप्रकार 'भगवान' अर्थात् ज्ञान व आनन्दरूप लक्ष्मी से भरा हुआ आत्मा 'भगवान' है। ऐसे शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु आत्मा की दृष्टि – प्रतीति होने पर वह धर्मी आत्मा का स्वामी हो गया है तथा विकार का स्वामी नष्ट हो गया है। इससे पूर्व का जो कर्मरूपी कचरा पड़ा है, वह भी अब स्वरूप की एकाग्रता के पुरुषार्थ द्वारा धीरे-धीरे नष्ट हो जायगा।

प्रश्नः–ये सब ठीक है; परन्तु ये बाहर के संयोग – स्त्री, पुत्र, कुटुम्बपरिवार आदि हमें छोड़ेंगे, तभी न हम इनसे मुक्त हो सकेंगे? अभी इनकी पराधीनता तो है न?

समाधानः– अरे भाई! बाहर से संयोगों ने हमें पकड़ा ही कहाँ है, जो छोड़ें। छोड़े तो तब न, जब पहले पकड़ा हो। जब पकड़ा ही नहीं है, तो छोड़ने व न छोड़ने की समस्या ही कहाँ से उत्पन्न हो गई? अरे भाई! पर के ग्रहण-त्याग की मान्यता की महा-मिथ्यात्व है, क्योंकि आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग होता ही नहीं है। आत्मा में तो त्यागोपादानशून्यत्व नामक एक शक्ति है, जिसके कारण आत्मा का पर का ग्रहण-त्याग होता ही नहीं है। जब आत्मा में पर का त्रिकाल त्याग ही है तो फिर पर के त्याग व ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता। अहा! मिथ्यात्व व राग को छोड़ा यह कहना भी व्यवहार है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा जहाँ दृष्टि में आया, वहाँ मिथ्यात्व उत्पन्न ही नहीं होता तो मिथ्यात्व को छोड़ा – ऐसा कहने में आता है। अहा! स्वभाव का ग्रहण होने पर विभाव सहज ही छूट जाता है। उत्पन्न ही नहीं होना, उसे ही छूटना कहते हैं।

गाथा ३४ में भी यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से आ गई है कि जहाँ आत्मा को राग के त्याग का कर्तापना है – यह कहना नाममात्र है। वहाँ आत्मा के पर का यानि धन-कुटुम्बादि के त्याग के कर्तापन की तो बात ही कहाँ रही? वे सब आत्मा में है ही कहाँ, जिनका त्याग किया जाय? पर का तो स्वद्रव्य में त्रिकाल अभाव ही है, परन्तु अन्दर में पूर्णानन्द के नाथ प्रभु आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान छोडकर अनन्तकाल से राग व पुण्य-पाप के भावों में अपनेपन की दृष्टि से – प्रतीति से मिथ्यादृष्टि हो रहा है – यही अज्ञानी अधर्मी का दरिद्रपना या भिखरीपन है – यही उस विकाररूप एवं कर्मरूप कचरे की गन्दी झोपड़ी में वास है। अब धीरेधीरे स्वरूप की एकाग्रता से उसे साफ करेगा।

यह निर्जरा अधिकार है न? इसलिए कहते हैं कि धर्मी उसके द्वारा स्वभाव में एकाग्रता – लीनता करते-करते पूर्व की कर्मप्रकृति की अशुद्धता को टालेगा और परमानंददशा को प्राप्तकर अनन्तसुख भोगेगा। अहा! ज्ञानी को आनन्द का अनुभव तो हुआ है, परन्तु पूर्णानंद का अनुभव नहीं है। अब धीरे-धीरे स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति करके पूर्व के कर्मों को खिराता हुआ – उनकी निर्जरा करता हुआ परमानन्द को भोगेगा, आनन्दरूप मुक्तदशा को प्राप्त कर लेगा।

इसप्रकार निर्जरातत्त्व रंगभूमि में से बाहर निकल गया अर्थात् निर्जरातत्त्व का यथार्थज्ञान हो गया।

अब सम्पूर्ण ,निर्जरा-अधिकार का सारांश पण्डित जयचन्दजी निम्नांकित पद्य में अति संक्षेप में कहते हैं–

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बंधै न तबै अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये;
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनंदरूप निजातम थाये।।

देखो, इस पद्य में सम्पूर्ण निर्जरा-अधिकार का सार कहा है। अहा! 'सम्यक्वंत महंत' कहकर ऐसा कहा है कि जिन्हें अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा का भान हुआ है, वह महान आत्मा है। अहा! समकिती पुरुष महंत है। राग को आत्मा माननेवाला बहिरात्मा दुरात्मा है और समकिती महान आत्मा है।

"सम्यक्वंत महंत सदा समभाव रहै दुःख संकटं आये" अहाहा! अनेक प्रतिकूलताओं में भी समकिती – ज्ञानी – धर्मी पुरुष तो सदैव समभाव में ही रहता है। अबतक अज्ञानदशा को तो प्रतिकूलता में द्वेष व अनुकूलता में राग होता था, परन्तु अब वह बात नहीं रही; क्योंकि अब सम्यग्ज्ञान होने पर परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि नहीं रही। अतः अब वह सदा समभाव में रहता है, ज्ञाता-दृष्टा भाव से ही रहता है।

प्रश्नः– तो क्या भरतबाहुबली के जब जलयुद्ध, मल्लयुद्ध व नेत्रयुद्ध हुए थे, तब भी उन्हें समता भाव ही था?

समाधानः– हाँ, उन्हें श्रद्धा की अपेक्षा से अंतरंग में साम्यभाव ही था और बाहर में जो वे लड़ते दिखाई दे रहे थे, वह उनके चारित्र मोह के उदय से अस्थिरता सम्बन्धी दोष था। अंतरंग अभिप्राय में द्वेष की कारणभूत अंनतानुबंधी कषाय के अभाव होने से उन्हें श्रद्धान में राग-द्वेष नहीं था। जो भी किंचित् राग-द्वेष दिखाई दे रहे थे, वह भी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण नहीं, बल्कि स्वयं चारित्र सम्बन्धी कमजोरी के कारण था। उसे भी उन्होंने अल्पकाल में नाश कर दिया है और पूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा बन गये।

२०वर्ष के जवान बेटे-बेटी का भी कदाचित् चिरवियोग हो जावे, तो भी समकिती के समभाव रहता है। वह जानता है कि कुटुम्बी भी मेहमान की भाँति आतेजाते रहते हैं। संयोग का स्वरूप ही ऐसा है, इसमें किसी का भी वश नहीं चलता। अतः उसे किंचित् रागादिभाव

होते हैं, परन्तु वे संयोग के कारण नहीं होते, बल्कि अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण होते है और उन्हें वह हेय मानता है। ज्ञानी को बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञेयों के कारण राग-द्वेष नहीं होते।

अहो! तीनलोक के नाथ अरिहंत परमात्मा को जो अनंत चतुष्टय प्रगट हुआ है, उसकी तो बात ही क्या कहें; किन्तु उन्हें जो बाहर में अतिशय प्रगट हुआ है, वह भी अद्भुत आश्चर्य उपजानेवाला है। अहा! देखो तो उनकी धर्मसभा, सौसौ इन्द्र नमन करते है। बड़े-बड़े सिंह भेंड़ों की भाँति सभी में चले आते है तथा अत्यन्त विनम्रता से भगवान की वाणी सुनते हैं। जंगल में से सिंह, बाघ, हाथी, विषधर भयंकर काले नाग भगवान के समोशरण में आते है और उनकी वाणी सुनते हैं। अहो! कैसी होगी वह वाणी! भव्य जीवों को आनन्द देनेवाली एवं भवतापहारी वह वाणी कोई जुदी ही जाति की होती है। उसी अद्भुत वाणी को यहाँ समयसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवाहित किया है।

वे कहते हैं कि धर्मी समकिती अथवा जिन्हें अनंत स्वभाव से भरा अपना चिदानंद स्वरूप आत्मा प्राप्त हुआ है, वह महंत है और वह सदैव समभाव में रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में उसे सदा समभाव रहता है। वह सम्पूर्ण अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में सदा ज्ञातादृष्टा भाव में ही रहता है। इस कारण उसको नवीन कर्म का बंध नहीं होता।

अहा! अज्ञानी के अंतरंग में अपने बड़प्पन की महिमा ही नहीं आती, इसकारण वह बाहर में व्रत, तप आदि रागभाव में ही कल्याण होना मानता है। अरे भाई! दया, दान, व्रत आदि तो सब राग की क्रियायें हैं, इनमें धर्म नहीं। तेरे अन्दर में पूर्ण भगवानस्वरूप कारण परमात्मा विराजमान है। उसकी महिमा को जान, पहचान एवं उसी का आश्रय कर! ऐसा करने से एक दिन तू स्वयं पर्याय में परमात्मा बन जायेगा।

अहाहा! "कर्म नवीन बंधै न तबै. अर पूरव बंध झड़े बिन भावे।"

देखो क्या कहा? कहते हैं कि समकित प्राप्त होने पर अर्थात् अपने परमात्म स्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीति होने पर पूर्वबद्ध कर्म तो बिना भावना के ही झड़ जावेंगे। ज्योंहि स्वभाव में एकाग्र हुआ नहीं कि तभी बिना भावना किए ही पूर्वबद्ध कर्म खिर जावेंगे।

अब कहते हैं कि ''पूरण अंग सुदर्शन रूप, धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये''

''पूरण अंग सुदर्शनरूप धरे'' अर्थात् जो समकित के आठों ही अंगों सहित सम्यग्दर्शन को धारण कर लेता है। उसके ''नित ज्ञान बढ़ै निज पाये'' अर्थात् आत्मोपब्धि होने पर नित्य आत्मा की शुद्धता बढ़ती जाती है। अर्थात् जो शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो गया है, उसको ज्ञान की शुद्धता निरन्तर बढ़ती जाती है। अहा! जैसे-जैसे ज्ञान में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे आत्मा की शुद्धता भी बढ़ती जाती है एवं अशुद्धता की विशेषविशेष निर्जरा होती जाती है।

अब कहते हैं कि ''यो शिवमारग साधि निरंतर, आनन्दरूप निजातम थाये।'' अहाहा! इसप्रकार भगवान केवली ने जो मोक्षमार्ग बताया है, ज्ञानी उसे निरंतर साधता हुआ पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दरूप हो जाता है। इसी का नाम परमानन्दस्वरूप मोक्ष है। अहा! अन्तर में जिसे स्वरूप का ध्यान रूपी साधन है, उसके द्वारा धर्मी पुरुष परमानन्द स्वरूप मोक्ष को साध लेता है।

इसप्रकार इस समयसार-शास्त्र-का यह निर्जरा अधिकार समाप्त हुआ।

महावीर-वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं॥
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव-जलधि के तीर हैं।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥
युगपद् विशद सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शत बार है॥

जिनके विमल उपदेश में, सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्त्ता न धर्त्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है॥
आतम बने परमातमा, हो शान्ति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में॥

—डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

हमारे यहाँ प्राप्त महत्वपूर्ण प्रकाशन

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (जीवकाण्ड)	४0-00
वृहज्जिनवाणी संग्रह	२५-00
समयसार/मोक्षशास्त्र	२0-00
प्रवचनसार/अष्टपाहुड	१६-00
नियमसार/समयसार नाटक	१५-00
सिद्धचक्र विधान	१३-00
प्रवचन रत्नाकर भाग १/आध्यात्मिक पाठ संग्रह	१२-00
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव/मोक्षमार्ग प्रकाशक	१२-00
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१0-00
परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१0-00
पंचास्तिकाय/जिनेन्द्र अर्चना (पूजन संग्रह)	१0-00
आ 0 कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	१0-00
प्रवचन रत्नाकर भाग २,३,४ एवं ५	१0-00
ज्ञानगोष्ठी	७-00
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हि.,गु., म.,क.,अं.)	७-00
सत्य की खोज [कथानक] हि,गु.,म.,क.,त.,),	७-00
बारह भावना : एक अनुशीलन/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	६-00
जिनवरस्यनयचक्रम्/धर्म के दशलक्षण (हि.,गु.,म.,अं.)	६-00
क्रमबद्धपर्याय (हि.,गु.,म., क.,त.,अं,) अध्यात्मरत्नत्रय	५-00
बनारसीविलास/अर्द्धकथानक/अध्यात्म संदेश/छहढाला	५-00
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५-00
बनारसीदास विशेषांक/वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५-00
श्रावक धर्म प्रकाश/भक्तामर प्रवचन/बनारसीदास (कामिक्स)	५-00
गागर में सागर/चौबीस तीर्थंकर पूजन/आप कुछ भी कहो	४-00
बालबोध पाठमाला भाग १,२,३ का सेट	३-२५
वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग १,२,३ का सेट	४-५0
तत्वज्ञान पाठमाला भाग १,२, का सेट	४-00
बनारसीदास : व्यक्तित्व व कर्तृत्व/चौसठ ऋद्धिविधान	३-00
चिद्विलास/परमार्थवचनिका	२-५0.
णमोकार महामंत्र/विदेशों में जैनधर्म : उभरते पदचिह्न	२-00
जिनपूजन रहस्य	१-५0
मै कौन हूं/अहिंसा महावीर की दृष्टि में/भरतबाहुबली नाटक	१-२५